उपेन्द्रनाथ अश्क







फ़िल्मी दुनिया की ...कियाँ



फ़िल्मी दुनिया की झलकियाँ–१

⊙

प्रेमचन्द, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, मण्टो और नरेन्द्र शर्मा जैसे अपने अनेक समकालीनों की तरह अश्क जी भी फ़िल्मों की दुनिया में गये थे। दो वर्षों का लम्बा अर्सा उन्होंने बम्बई में गुज़ारा और ढेरों कड़वे-मीठे अनुभव प्राप्त किये।

फ़िल्मी दुनिया की झलकियाँ—के इस पहले खण्ड में इन्हीं दो वर्षों की कहानी है, जिसमें अश्क जी ने फ़िल्मों की जगमगाती मोहक दुनिया के पीछे छिपी असलियत बयान की है।

युवावस्था में ही फ़िल्मों से अश्क जी का सम्पर्क हो गया था और इस संस्मरण में जहाँ उन्होंने अपने अनुभवों की कथा कही है, वहीं नयी-पुरानी फ़िल्मों का एक जायज़ा भी लिया है।

अश्क जी के सधे हाथों की यह सम्वेदनशील तसवीर उस बीते हुए युग की झांकी तो है ही, जब सुलोचना, ज़ुबैदा, सविता देवी और डी० बिलीमोरिया मौन फ़िल्मों के पर्दे पर जगमगाते थे—साथ ही यह उस ज़माने की भी एक अनुपम झलक है, जिसमें आज की फिल्मों के अंकुर फूट रहे थे।

अशोक कुमार, दिलीप कुमार, देविका रानी, हिमांशु राय, मण्टो, प्रदीप, बलराज साहनी, सचिनदेव बर्मन और 'परी चेहरा' नसीम बानो से ले कर शशधर मुकर्जी, नितिन बोस, काननबाला, वी० एच० देसाई, कनु राय और वास्ती तक—जाने कितने परिचित-अपरिचित चेहरे इस चलती-फिरती तसवीर में आते हैं और अश्क जी ने इन सबका ख़ाका अपनी सुपरिचित, सहज-सरल, लेकिन दिलचस्प शैली में खींचा है।

परिशिष्ट के तौर पर इस पुस्तक में अश्क जी का सुप्रसिद्ध हास्य-व्यंग्य-भरा एकांकी—**मस्केबाज़ों का स्वर्ग**—भी दिया जा रहा है, जो फ़िल्मों की ज़िन्दगी का एक रोचक पक्ष प्रस्तुत करता है।

फ़िल्मी दुनिया की झलकियाँ–२

⊙

फ़िल्मी जीवन के अपने दो वर्षों में अश्क जी ने दसियों कड़वे-मीठे अनुभव सँजोये, इस जगमगाती हुई दुनिया को बहुत नज़दीक से देखा-परखा और इन अनुभवों को अपनी रचनाओं में व्यक्त किया।

फ़िल्मी दुनिया की झलकियाँ—के इस दूसरे खण्ड में अश्क जी की वे चुनी हुई कहानियाँ, एकांकी, लेख और संस्मरण संकलित हैं, जो फ़िल्मों के चटकीले संसार को पाठकों के सामने पेश करते हैं।

इसके साथ ही इस खण्ड में बी० बी० सी० (लन्दन) के एक युवा कार्यक्रम अधिकारी श्री श्रीराम विद्यार्थी को दिया गया अश्क जी का इण्टर्व्यू भी है, जिसमें अश्क जी ने अपने अनुभवों की रोशनी में फ़िल्म के माध्यम, उसकी तकनीक, देशी-विदेशी फ़िल्मों और अभिनेताओं-निर्देशकों का मूल्यांकन प्रस्तुत किया है।

फ़िल्मी दुनिया की झलकियाँ—का सब से बड़ा आकर्षण है—**सुलोचना के नगर में**—वह अधूरा उपन्यास, जो अश्क जी ने बम्बई में ही रहते हुए लिखना शुरू किया था।

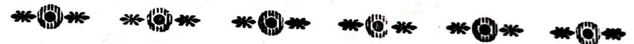
हिन्दी के तमाम पाठक आज तक फ़िल्मों की तड़क-भड़क और चकाचौंध को दूर ही से देखते रहे हैं, लेकिन अश्क जी अपनी दिलचस्प हास्य-व्यंग्य-भरी शैली में उस अनोखे संसार और उसके यथार्थ को इन सभी पाठकों के इतने करीब ले आते हैं कि वे उसे छू के महसूस कर सकें।

●

फ़िल्मी दुनिया की झलकियाँ – के इस पहले खण्ड में अश्क जी ने उन दो वर्षों की कहानी बयान की है, जो उन्होंने बम्बई के 'फ़िल्मिस्तान' स्टूडियो में कथाकार और सम्वाद-लेखक के रूप में बिताये। लेकिन इसके साथ ही अश्क जी ने अपनी युवावस्था की कुछ अनोखी और दिलचस्प झाँकियाँ भी पाठकों के सामने पेश की हैं, जब वे फ़िल्मों के चमकीले पर्दे पर जगमगाने वाली अभिनेत्रियों के दीवाने थे और खुद भी फ़िल्मों में जाने की सोचते थे।

यह पुस्तक अश्क जी की सुपरिचित व्यंग्य-भरी शैली में अत्यन्त रोचकता के साथ एक ऐसे युग का अनमोल चित्र पाठकों के सामने पेश करती है, जो अब फ़िल्मों के इतिहास में ही दिखता है। यह बीता हुआ ज़माना, जिसमें आज की फ़िल्मों के बीज अंकुरित हो रहे थे, अश्क जी के सधे हुए हाथों के स्पर्श से जीवन्त हो उठा है।

फ़िल्मी दुनिया की झलकियाँ



उपेन्द्रनाथ अश्क



नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद

● प्रथम संस्करण : १९७९

● कॉपीराइट : श्री उपेन्द्रनाथ अश्क

● आवरण : श्री शिवगोविन्द पाण्डेय

● मूल्य : नीलाभ प्रकाशन इलाहाबाद मूल्य : १५०.००

● प्रकाशक :
नीलाभ प्रकाशन,
५, खुसरो बाग़ रोड, इलाहाबाद

● मुद्रक :
सुपरफाइन प्रिंटर्स,
१-ए, बाई का बाग़, इलाहाबाद

प्रकाशकीय

फ़िल्मी दुनिया की झलकियाँ – के इस पहले खण्ड में अश्क जी ने उन दो वर्षों की कहानी बयान की है, जो उन्होंने बम्बई के 'फ़िल्मिस्तान' स्टूडियो में कथाकार और सम्वाद-लेखक के रूप में बिताये। लेकिन इसके साथ ही अश्क जी ने अपनी युवावस्था की कुछ अनोखी और दिलचस्प झाँकियाँ भी पाठकों के सामने पेश की हैं, जब वे फ़िल्मों के चमकीले पर्दे पर जगमगाने वाली अभिनेत्रियों के दीवाने थे और खुद भी फ़िल्मों में जाने की सोचते थे।

फ़िल्मी दुनिया की झलकियाँ – एक जुलूस है, जिसमें सुलोचना, जुबैदा, सविता देवी और डी० बिलीमोरिया से ले कर अशोक कुमार, दिलीप कुमार, शशधर मुकर्जी, नसीम बानो, देविका रानी, नितिन बोस, प्रदीप, नेपाली, मंटो, आदि दसियों लोग हैं। फ़िल्मों के रुपहले पर्दे के पीछे ये नामी हस्तियाँ किस रूप में नज़र आती हैं, इसका यथार्थ चित्रण अश्क जी ने किया है।

यह पुस्तक अश्क जी की सुपरिचित व्यंग्य-भरी शैली में अत्यन्त रोचकता के साथ एक ऐसे युग का अनमोल चित्र पाठकों के सामने पेश करती है, जो अब फ़िल्मों के इतिहास में ही दिखता है। यह बीता हुआ ज़माना, जिसमें आज की फ़िल्मों के बीज अंकुरित हो रहे थे, अश्क जी के सधे हुए हाथों के स्पर्श से जीवन्त हो उठा है।

अपने व्यक्तिगत अनुभवों को प्रस्तुत करने के साथ अश्क जी ने इस पुस्तक में अपने ज़माने की महत्वपूर्ण फ़िल्मों का एक जायज़ा भी लिया है, जो इस पुस्तक को एक अतिरिक्त आकर्षण प्रदान करता है।

पुस्तक के अन्त में फ़िल्मी दुनिया की पृष्ठभूमि पर लिखा गया अश्क जी का प्रसिद्ध एकांकी – **मस्केबाज़ों का स्वर्ग** – भी दिया जा रहा है, फ़िल्मी जीवन के एक दिलचस्प पहलू को अंकित करता है।

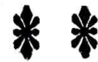
– प्रक

फ़िल्मी दुनिया
की
झलकियाँ

** **

पहला खण्ड





ग्राज, जब मुझे कोई फ़िल्म देखे महीने-बरस बीत जाते हैं, मुझे कभी-कभी उन दिनों की याद ग्राती है, जब मैं दिन-रात फ़िल्मी दुनिया के सपने लेता था। वहाँ के नायक-नायिकाएँ, ऐक्टर-डायरेक्टर, हर वक्त मेरे दिमाग़ को घेरे रहते थे ग्रौर मैं सोचा करता था कि बी० ए० पास करके मैं बम्बई जाऊँगा ग्रौर ग्रभिनेता, निर्देशक या कथा-लेखक के रूप में देश भर में प्रसिद्धि पाऊँगा।

यह १९३० की बात है ग्रौर तब मैं डी० ए० वी० कॉलेज, जालन्धर में थर्ड इयर का छात्र था....

फ़िल्मी नायिकाओं के प्रेमी

उन दिनों को याद करता हूँ तो कुछ अजीब-सी हूक मन में उठती है। कैसे पागलपन के दिन थे, कैसा जोश और कैसा वलवला था। ज़िन्दगी की ठोस हकीकतों से अनजान मेरा मन, सपनों के आकाशों में तरारे भरता था। मेरा एक दोस्त था हसीब। नवाब खैरपुर की परित्यक्ता पत्नी का सुन्दर और ज़हीन बेटा! उसके घर में बाहर की तरफ़ एक छोटा-सा कमरा था, जिसमें एक मैले-से जाजम पर एक बड़ी-सी चौकी बिछी रहती और जो सिगरेट के धुएँ, पत्र-पत्रिकाओं और किताबों से बुरी तरह अटा रहता। उसी में घण्टों बैठे हम सुलोचना और ज़ुबैदा, माधुरी, सविता देवी, सीता देवी और इनाक्षी रामाराव; डी० बिलीमोरिया, जाल मर्चेण्ट, भवनानी और इज़रा मीर – उस ज़माने को प्रसिद्ध फ़िल्मी नायिकाओं, नायकों और निर्देशकों के गुण-दोषों पर लगातार वाद-विवाद करते हुए, फ़िल्मी दुनिया को सर करने की नित-नयी योजनाएँ बनाया करते थे।

हसीब मेरा सहपाठी था। यह और बात है कि थर्ड इयर से पहले मेरा उसका परिचय नहीं हुआ था। शायद इसलिए कि वह दूसरे सेक्शन में पढ़ता था। लेकिन थर्ड इयर में हमारे कॉलेज के वातावरण में अचानक एक बहुत बड़ा परिवर्तन आया और हसीब न केवल कॉलेज में लोकप्रिय हो गया, वरन मेरे साथ भी उसकी गहरी दोस्ती हो गयी।

हुआ यह कि जिस साल मैंने एफ़० ए० की परीक्षा पास की, हमारे कॉलेज में डिग्री क्लासें शुरू हो गयीं। यद्यपि इतिहास और हिन्दी के अध्यापक तो वे ही रहे, जो हमें एफ़० ए० में पढ़ाया करते थे और नाराज़ होने पर बेंचों पर खड़ा कर देते थे, लेकिन डिग्री कॉलेज की ज़रूरतों के मुताबिक अंग्रेज़ी, अर्थशास्त्र और गणित के लिए नये अध्यापक रखे गये। ये तीनों गवर्नमेण्ट कॉलेज लाहौर से एम० ए० करके आये थे। इनके आते ही कॉलेज के वातावरण में स्पष्ट तब्दीली आ गयी, जिसका श्रेय अंग्रेज़ी के अध्यापक आर० एल० डोगरा को था।

लाहौर के गवर्नमेण्ट कॉलेज और जालन्धर के डी० ए० वी० कॉलेज में (जिसे हम लोग 'पुत्री पाठशाला' कहते थे) ज़मीन-आसमान का अन्तर था। डोगरा थोड़े आज़ाद-ख़याल, फक्कड़ और लाउबाली अध्यापक थे। ज़ाहिर है, उन्हें हमारे कॉलेज का वातावरण खासा संकीर्ण और उबाऊ लगा होगा। जाने उन्होंने प्रिंसिपल को क्या पट्टी पढ़ायी कि कॉलेज में 'छात्र संघ' और 'वाद-विवाद समिति' का समारम्भ हो गया। यही नहीं, हमारे तानाशाह प्रिंसिपल ने स्वयं उनका उद्घाटन किया। पहली ही 'वाद-विवाद प्रतियोगिता' में हसीब के तर्कपूर्ण, ओज-भरे भाषण, प्रभावशाली व्यक्तित्व और मधुर मुस्कान ने सबका मन जीत लिया। मैं तो मन-ही-मन उस पर फ़िदा हो गया।

हसीब लम्बा-छरहरा, गोरे रंग का युवक था। कुर्ते-पायजामे में कॉलेज आता और यह सादा लिबास उस पर खूब फबता। ऊपर की दन्त-पंक्ति उसकी ज़रा अन्दर की ओर झुकी थी, जो उसकी मुस्कान को अतिरिक्त मिठास प्रदान कर देती।

उसी वर्ष प्रो० डोगरा ने तय किया कि कॉलेज के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर उस ज़माने का प्रसिद्ध सामाजिक नाटक 'श्रीमती मंजरी' मंच पर प्रस्तुत किया जाय। कॉलेज के मंच पर अव्वल तो ज़्यादा नाटक हुए नहीं थे। कभी हुए भी थे तो केवल धार्मिक। प्रो० डोगरा ने प्रिंसिपल को समझा दिया कि उस वक्त जब कॉलेज में मुसलमान छात्रों की प्रचुर संख्या है, कोई धार्मिक नाटक उठाने के बदले हिन्दू-मुस्लिम एकता की भावना पर लिखा गया वह नाटक प्रस्तुत करना – विशेषकर स्वातन्त्र्यान्दोलन के परिप्रेक्ष्य में – कॉलेज की प्रतिष्ठा को निश्चय ही बढ़ायेगा और प्रिंसिपल साहब मान गये।

जब मुझे मालूम हुआ कि हसीब उसमें अनाथ मुस्लिम युवक की भूमिका में उतर रहा है तो मैंने भी अभिनेताओं में अपना नाम लिखा लिया। मुझे नाटक के खलनायक रायबहादुर जानकीनाथ की भूमिका दी गयी। मैंने वह भूमिका इसलिए स्वीकार कर ली कि शराब के रसिया अपने पिता के कारण मैं शराबियों के स्वर और चाल की बहुत अच्छी नकल कर लेता था।

इसी नाटक की रिहर्सलों में हसीब और मैं निकट आ गये। नाटक में हम

दोनों की भूमिका सफल रही। हसीब की बात मैं नहीं जानता, लेकिन मेरे दोस्त बहुत दिनों तक मुझे 'रायबहादुर जानकीनाथ' ही बुलाते रहे।

जब मुझे मालूम हुआ कि हसीब मेरे घर के निकट ही रैनक बाज़ार में रहता है तो मैं उसके यहाँ जाने लगा। और उसी से मुझे फ़िल्मी दुनिया की दीक्षा मिली।

कामत-ए-जानाना*

हमारे शहर में स्टेशन रोड पर नया-नया सिनेमा हॉल खुला था, जहाँ खामोश फ़िल्में दिखायी जाने लगी थीं। हसीब के यहाँ से मैं कलकत्ते की मासिक पत्रिका 'फ़िल्म लैण्ड,' बम्बई की 'मूवी मिरर' और लाहौर से निकलने वाली एक फ़िल्मी पत्रिका (जिसका नाम मैं भूल गया हूँ – कदाचित 'फ़िल्म रिव्यू') उठा लाया। सुलोचना उस ज़माने की प्रसिद्ध नायिका थी। 'इम्पीरियल फ़िल्म कम्पनी' में काम करती थी। उसका फ़ोटो अनायास ध्यान खींचता था। मेरे मन में उसकी फ़िल्म देखने की बड़ी साध थी। सस्ती का ज़माना था। किसी तरह चवन्नी का जुगाड़ कर, मैं उसकी फ़िल्म देखने गया। नाम तो मैं उसका भूल गया हूँ, पर उसका पहला दृश्य आज भी मुझे ऐसे याद है, जैसे मैंने उसे कल देखा हो। उस फ़िल्म का देखना था कि सुलोचना मेरे दिल-दिमाग़ पर छा गयी।

उसका असली नाम रूबी मेयर्ज़ था। ऐंग्लो इण्डियन थी। अंग्रेज़ का ज़माना था। हिन्दी वह तब क्या बोलती होगी! लेकिन खामोश फ़िल्मों को स्वर की नहीं, रूप की आवश्यकता थी और रूप उसका, उर्दू शब्दों में, कयामत ढाने वाला था। सरो-सा लम्बा कद; सांचे में ढला शरीर; तीखी रोमन नाक; पतले-पतले होंट, प्यारा नुकीला चेहरा; बड़ी-बड़ी आकर्षक आँखें; चौड़ा माथा – वह किसी सम्राज्ञी ऐसी लगती। उसके वुजूद में कुछ अजीब-सी गरिमा, दर्प-मिश्रित आभा और दूरी थी। आज मैं उसके सरापे की याद करता हूँ तो फ़ैज़ का एक शे'र कानों में गूंज उठता है:

कब तक तेरी राह देखें, ऐ क़ामत-ए-जानाना
कब हश्र मुऐयन है† तुझको तो ख़बर होगी।

पिछले दिनों जब मैं बम्बई गया था तो मेरे एक मित्र दो पेग पीने के बाद हर रोज रिकॉर्ड प्लेयर पर, मलिका पुखराज द्वारा गायी, फ़ैज़ की इस ग़ज़ल का रिकॉर्ड लगा देते और जब यह शे'र आता तो गाने वाली को प्यार-भरी गालियाँ देते हुए बेतरह सिर धुनते। जाने इस शे'र को सुन कर उन्हें अपनी किस महबूब की याद आती थी, लेकिन तमाम फ़िल्मी नायिकाओं में, जो मैंने पिछले पचास वर्षों में फ़िल्म के पर्दे पर देखी हैं, सिर्फ़ सुलोचना ऐसी ही है, जिसका रूप इस शे'र की याद दिलाता है।

मेरे जुनून का अन्दाज़ा आप इस बात से लगाइए कि एक बार सैयदाँ गेट (जालन्धर) से आते हुए एक पनवाड़ी की दुकान पर मैंने सुलोचना का एक बड़ा-सा चित्र लगा देखा। पनवाड़ी ने किसी मैगज़ीन से उसका आवक्ष-चित्र (बस्ट) काट, उसे सादे रंगीन काग़ज़ पर चिपका कर, फ्रेम करा लिया था। सुलोचना की लम्बी, सुराहीदार गर्दन; उसका सुन्दर नुकीला चेहरा; बड़ी-बड़ी आम की फाँक-सी आँखें; गर्दन का हल्का-सा ख़म; चौड़े माथे पर सीधी माँग के दोनों ओर बाल जूड़े में कसे हुए – मैं एकदम विमोहित उस चित्र को देखता रह गया था। काम-बे-काम मैं दिन में एक-न-एक बार उस बाज़ार से गुज़रने लगा। आखिर मैंने उस पनवाड़ी से पूछ ही लिया कि वह चित्र बेचेगा? उसने एक रुपया दाम माँगा। यद्यपि उस बहुमूल्य चित्र का दाम एक रुपया मुझे बहुत कम लगा, लेकिन उस विपन्नावस्था में एक रुपया जोड़ने में मुझे एक महीना लग गया। इस बीच मेरा दिल बराबर धड़कता रहा कि कहीं कोई उस चित्र को ले न जाये! आखिर जब एक रुपया जमा करके मैं उस चित्र को खरीद लाया तो मुझे कुछ शान्ति हुई।

ज़रीना नंगी नाचती है

कुछ दिनों बाद मुझे एक अन्य फ़िल्मी नायिका ज़ुबैदा भी अच्छी लगने लगी। मुझे याद आता है, 'सागर फ़िल्म कम्पनी' की ओर से निर्देशक इज़रा मीर ने (जिन्हें हॉलीवुड डायरेक्टर कहा जाता था, क्योंकि वे विदेश से शिक्षा पाये थे) ज़ुबैदा को ले कर एक फ़िल्म बनायी थी – 'ज़रीना'!

चूंकि हम लोग फ़िल्मी पत्र-पत्रिकाओं में पहले ही से फ़िल्मों के बारे में पढ़ लेते थे, उस फ़िल्म को ले कर जो भयंकर वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ था, उससे परिचित थे, इसलिए जब वह फ़िल्म हमारे शहर में लगी तो हम – मैं और हसीब – उसे इकट्ठे देखने गये। ज़ुबैदा मँझले कद की, गोल-गुलगोथने मुख वाली, पतली-छरहरी, चंचल-चपल युवती थी। वह बहुत अच्छा नाचती थी। वही ज़रीना की भूमिका में उतरी थी। मुझे उस फ़िल्म का एक दिलचस्प दृश्य आज भी याद है....

....कस्बे के सिनेमा हॉल में 'ज़रीना' फ़िल्म लगी है और हॉल के बाहर नृत्य की विभिन्न मुद्राओं में ज़रीना (ज़ुबैदा) के पोस्टर लगे हैं। इण्डियन चार्ली

* प्रिय का लम्बा तन।
† कब प्रलय होगी (याने कब तू आयेगा क्योंकि तेरा आना प्रलय का आना है)।

(नूर मुहम्मद) जो शायद उसी फ़िल्म में पहली बार उतरा था, फ़िल्म को देखने के लिए बेतरह लालायित है। लेकिन उसकी जेब खाली है। वह टिकट के बिना बार-बार हॉल के ग्रन्दर दाखिल होने की कोशिश करता है, लेकिन हर बार परे खदेड़ दिया जाता है। ग्राखिर मैनेजर को उस पर दया ग्रा जाती है। वह उससे कहता है कि ग्रगर तुम पाँच ग्रादमियों को फ़िल्म देखने के लिए तैयार कर दो तो तुम्हें मुफ़्त ग्रन्दर जाने की इजाज़त दे दी जायगी। वह उल्लसित हो उठता है। हॉल के बाहर ग्रा खड़ा होता है। तभी दो रास्ता-चलते ज़रीना का चित्र देखने लगते हैं। वह उनके पास जा कर कहता है –

"इस फ़िल्म को मत देखना।"

"क्यों ?"

"इसमें ज़रीना नंगी नाचती है।"

ग्रौर उसके परे होते ही वे दोनों टिकटघर को ग्रोर बढ़ जाते हैं।

इसी युक्ति से चार्ली बाकी तीन लोगों को तैयार कर देता है ग्रौर मज़े से हॉल के ग्रन्दर जा बैठता है....

मुझे इतना याद है कि हमें वह फ़िल्म बहुत ग्रच्छी लगी थी। लेकिन उसमें कुछ इतनी चूमा-चाटी थी कि उस फ़िल्म के खिलाफ़ हंगामा बरपा हो गया ग्रौर वह निषिद्ध करार दे दी गयी।

इनाक्षी रामाराव का दीवाना

एक तीसरी नायिका भी थी, मौन चित्रपट के ज़माने में जिसका बहुत नाम था – सविता देवी ! वह भी ऐंग्लो इण्डियन थी। उसका ग्रसली नाम मैं भूल गया हूँ। सुलोचना का ठस्सा ग्रौर ज़ुबैदा की चपलता उसमें नहीं थी। बस सुन्दरता थी, जैसे संगमरमर में गढ़ी हुई, मौन ग्रौर गम्भीर ! उसे देख कर मुझे प्रायः मन्दिरों में जमी बेजान संगमरमरी मूर्तियों की याद हो ग्राती। लेकिन मेरे दोस्तों में ऐसे भी थे, जो सविता देवी के उस ठहरे हुए, ग्रचंचल सौन्दर्य पर फ़ना थे।

लेकिन हसीब को न सुलोचना पसन्द थी, न ज़ुबैदा ग्रौर न सविता देवी। वह तो बस इनाक्षी रामाराव का दीवाना था।

यह ग्रजीब बात है कि हसीब ने इनाक्षी रामाराव को कोई फ़िल्म न देखी थी। देखता भी कहाँ, जब उसकी कोई फ़िल्म ही तब तक न बनी थी। फ़िल्मी पत्रिकाग्रों में उसके चित्र छपे थे ग्रौर यह घोषणा कि मद्रास के प्रतिष्ठित जज की पुत्री ग्रौर एम० ए० तक पढ़ी होने के बावजूद इनाक्षी ने फ़िल्मों में उतरने का निश्चय किया है।

उस ज़माने में विलायत से फ़िल्मी तकनीक सीख कर दो निर्देशक भारत

ग्राये थे – इज़रा मीर ग्रौर मोहन भवनानी। भवनानी मद्रास में ग्राउट-डोर शूटिंग कर रहे थे, जहाँ इनाक्षी उनसे मिली थी ग्रौर उसने उनकी ग्रगली फ़िल्म 'वसन्तसेना' में काम करने का वचन दे दिया था।

हसीब ने जब उसका चित्र देखा ग्रौर यह घोषणा पढ़ी तो बस, वह उसका शैदाई हो गया। उस ज़माने में भले घर की कोई पढ़ी-लिखी लड़की फ़िल्मों में नहीं जाती थी। गाने-नाचने वालियाँ ग्रथवा ऐंग्लो इण्डियन युवतियाँ ही फ़िल्मों में काम करती थीं। ऐसे में उस तरह का साहसपूर्ण कदम उठाने पर हसीब ने एक पत्र में उसे बधाई दी थी, उसके हौसले को सराहा था ग्रौर ग्रन्त में एक हस्ताक्षरित चित्र की माँग की थी।

उसी दिन या उसके दूसरे-तीसरे जब मैं हसीब से मिला तो वह इनाक्षी रामाराव से, जिसे कहते हैं, पुरमपूर भरा था। उसने मुझे उसकी तस्वीर दिखायी। उसके बारे में फ़िल्मी पत्रिकाग्रों में जो ब्योरे छपे थे, वे दिखाये ग्रौर घोषणा की कि फ़िल्मी क्षेत्र में इनाक्षी रामाराव के पदार्पण से एकदम क्रान्ति ग्रा जायगी।

मुझे इनाक्षी कुछ वैसी सुन्दर न लगी थी। पहली बात तो यह, कि जहाँ सुलोचना ग्रौर ज़ुबैदा ग्रल्हड़ युवतियाँ लगती थीं, इनाक्षी पूरी ग्रौरत दिखायी देती थी। चौड़ा-चौड़ा-सा मुख, खुला माथा, किंचित धँसे कल्ले ग्रौर गालों की हड्डियाँ उभरी हुईं। होंट ज़रूर पतले थे, ग्राँखों में चतुराई भी थी। लेकिन सिर्फ़ पतले होंटों ग्रथवा ग्राँखों की चतुराई पर तो नहीं मरा जा सकता। मैं बहुत देर तक मन की बात छिपा नहीं सका। मैंने पूछ ही लिया – "यार, इसमें तुम्हें क्या दिखायी देता है, जो तुम इसके दीवाने हो रहे हो ?"

तब हसीब ने जो कहा, उसे सुन कर मुझे थोड़ा ग्राघात लगा था। उसका खयाल था कि फ़िल्मों में काम करने वाली सब कसबियाँ या चालू लड़कियाँ थीं, पहली बार एक उच्च घराने की पढ़ी-लिखी, सम्भ्रान्त, बौद्धिक लड़की ने फ़िल्मी क्षेत्र में प्रवेश किया था ग्रौर उसके चेहरे की बौद्धिकता ग्रौर ग्रव्यक्त दर्प – दोनों उसे प्रिय थे। उसने मुझे यह भी सूचना दी कि वह उसका हस्ताक्षरित चित्र मँगा कर ग्रपनी स्टडी में लगायेगा।

हसीब को ग्रपनी ग्रंग्रेज़ी पर नाज़ था। उसका खयाल था कि ग्रंग्रेज़ी में लिखा हुग्रा उसका पत्र पढ़ कर इनाक्षी रामाराव प्रभावित हुए बिना न रहेगी ग्रौर तत्काल चित्र भेज देगी। लेकिन जब कई पत्र लिखने पर भी न उसे पत्रों की पहुँच मिली, न हस्ताक्षरित फ़ोटो ही ग्राया तो वह बेहद मायूस हुग्रा ग्रौर उसी ग्रनुपात में उसकी दीवानगी बढ़ गयी।

एक शाम जब मैं उसके घर गया तो वह बहुत उदास बैठा, सिगरेट-पर-सिगरेट फूंक रहा था ग्रौर हफ़ीज़ का गीत 'मन है पराये बस में', गा रहा था।

जब मैंने हँस कर पूछा, "क्या बात है?" तो उसने सिर्फ़ एक लम्बी साँस ली और खामोश हो गया।

जब मैंने उसे बहुत कोंचा तो उसने मन की व्यथा कही कि उसने कई पत्र लिखे, पर इनाक्षी ने तस्वीर भेजना तो दूर रहा, पहुँच तक नहीं दी।

"बिना इनाक्षी रामाराव की फ़ोटो पाये तुम्हें चैन नहीं मिलता?" मैंने पूछा।

"हाँ!" उसने बेबसी से कहा।

"इतने चित्र उसके छपे हैं, तुम किसी को काट कर फ़्रेम क्यों नहीं करा लेते?"

"जैसे तुमने सुलोचना का लगा रखा है!"

"क्या हर्ज है।"

"है! मन की बात है। मैं वैसा नहीं कर सकता।"

"मैं मँगा दूँ।"

"तुम कैसे मँगा दोगे?"

"तुम्हें आम खाने से गरज है कि पेड़ गिनने से?" मैंने बेपरवाही से कहा।

"पर तुम कैसे मँगा लोगे?" उसने कहा और व्यंग्य से हँसा।

उसका प्रश्न और आशंका उचित ही थी। अंग्रेजी और उर्दू साहित्य का ज्ञान उसको मुझसे कहीं ज्यादा था। भाषा उसकी बाँदी थी। वह चतुर और वाक-पटु था। मैं तो उसके मुकाबिले में कुछ भी नहीं था। शायर था और ग़ज़लें कहता था और कहानियाँ लिखता था। लेकिन मेरी वे ग़ज़लें और कहानियाँ मद्रास के जज की उस मानिनी लड़की को तो न लुभा सकती थीं। पर हसीब को यह मालूम नहीं था कि मेरा दिमाग़ उसकी अपेक्षा कहीं तेज था। वह सुखन-फ़हम था, जब कि मैं सुखन-गो था। वह रसज्ञ था, मैं सर्जक था। हम दोनों कच्चे थे। लेकिन मैं उसकी अपेक्षा कहीं पक्का था। शुरू से यह मेरी आदत रही है कि जब भी मैं कोई बात करता हूँ, उसी क्षण उसकी सारी ऊँच-नीच मेरे दिमाग़ में आ जाती है। और जब मैंने उससे कहा था – 'मैं मँगा दूँगा' – तो मेरे दिमाग़ में एक योजना कौंध गयी थी। मैंने कहा :

"कैसे मँगा दूँगा, तुम्हें इससे क्या लेना है? बस मैं तुम्हें चित्र मँगा कर दिखा दूँगा।"

"तुम इनाक्षी रामाराव का चित्र मँगा दोगे तो मैं तुम्हें पाँच रूपये दूँगा।" उसने कहा, "न मँगा सके तो पाँच तुमसे ले लूँगा।"

वह दीवान खैरपुर का बेटा था (भले ही उनकी परित्यक्ता पत्नी से); उसके पिता एक निश्चित रकम हर महीने भेजते थे, जब कि मेरे पिता कई बार अपना वेतन तक शराब और जुए में उड़ा देते थे।

"पाँच रुपये मेरे लिए बहुत बड़ी रकम है।" मैं हँसा, "मैं जीत गया तो तुम फ़र्स्ट क्लास में सुलोचना की कोई पिक्चर दिखा देना। क्योंकि तुम्हें चवन्नी क्लास में पिक्चर देखने में उलझन होती है। और मैं हार गया तो मैं तुम्हें चवन्नी क्लास में, जो भी पिक्चर तुम चाहोगे, दिखा दूँगा।"

और हमने हाथ-पर-हाथ मार कर शर्त बद ली।

शीला देवी 'कुमुद' का आविर्भाव

घर आ कर मैंने अपनी गुल्लक निकाली। कॉलेज के दिनों में मुझे सिर्फ़ एक आना रोज मिलता था, जिससे आधी छुट्टी को मैं दो पैसे की बर्फ़ी और दो पैसे की (आध पाव दही की) लस्सी पी लेता; उसमें तो भला क्या बचता, लेकिन दिन-त्योहार पर सब भाइयों को पैसे मिलते थे। भाई तो खा-उड़ा डालते। मैं जोड़ लेता। कभी पिता आ जाते और उनकी जेबें भारी होतीं और वे ज्यादा पिये न होते तो एक-एक रुपया सब को दे देते। मैं वह भी जोड़ लेता....

गुल्लक में सौभाग्य से डेढ़-एक रुपये के पैसे थे। सस्ती का जमाना। मैं आठ आने जेब में डाल कर भैरो बाजार गया और हल्के गुलाबी रंग का लाइनदार सुगन्धित पैड और उसी रंग के चौकोर लिफ़ाफ़े ले आया। फिर मैं अपने कमरे में जा बैठा (जिसे मैंने फ़र्श पर दरी और दोतही बिछा, एक बड़ी-सी चौकी रख कर, हसीब के कमरे जैसा बना लिया था) और इनाक्षी रामाराव के नाम अंग्रेजी में एक पत्र लिखा। रफ़। अपनी ओर से नहीं, इनाक्षी रामाराव की एक विवाहित प्रशंसिका – शीला देवी 'कुमुद', बी० ए० – की ओर से। उस पत्र में पहले उसने (शीला देवी ने) लेखिका और कवयित्री के नाते अपना परिचय दिया, फिर हिन्दी स्टण्ट फ़िल्मों की अयथार्थता पर वितृष्णा प्रकट करते हुए देश के सांस्कृतिक अभ्युत्थान में अच्छी फ़िल्मों का महत्व जताया। निर्देशक भवनानी की प्रशंसा की और उम्मीद जाहिर की कि वे निश्चय ही हिन्दी फ़िल्मों में यथार्थता का पुट देंगे। तब अपनी विद्वत्ता और सम्भ्रान्तता के बावजूद फ़िल्मी दुनिया में कदम रखने में पहल करने के लिए स्वयं इनाक्षी के साहस और दिलेरी की प्रशंसा की और आशा व्यक्त की कि उन जैसी नायिका पा कर निश्चय ही भवनानी साहब उच्चकोटि की फ़िल्म बनायेंगे। उस फ़िल्म को देखने की उत्कट लालसा व्यक्त की और अन्त में चाहा कि वे अपना एक हस्ताक्षरित फ़ोटो भेजें तो बहुत आभार होगा। उसे वह (शीला देवी) अपनी स्टडी में टाँगेगी और अपने संघर्ष में हमेशा उससे बल प्राप्त करेगी।

आज जब इस घटना को ५० वर्ष हो गये हैं और मैं सोचता हूँ कि यह नाम – शीला देवी और उपनाम 'कुमुद' – मुझे कैसे सूझा तो मुझे याद आता है कि

बी० ए० की परीक्षा देते ही एक जगह मेरी सगाई की बात चलने लगी थी और लड़की का नाम मालूम हुआ कि शीला देवी है। 'कुमुद' उपनाम मेरे एक सहपाठी प्राणनाथ ने सुझाया था। वह हमारे मुहल्ले में रहता था और क्लास में हमेशा अव्वल आता था। मैंने उसे अपने भेद का साझीदार बना लिया था और अपना वह रफ़ पत्र दिखाने और संशोधित कराने उसके यहाँ गया था। वरना मैं तो उर्दू शायर था और मुझे तो 'कुमुद' के अर्थ भी नहीं आते थे। दिलचस्प बात यह है कि ज्योंही मैंने इस नाम से पत्र लिखने का फ़ैसला किया, मैंने यह भी तय कर लिया कि अव्वल तो मेरी पत्नी बी० ए० ही होगी, नहीं होगी तो मैं उसे बी० ए० करा दूँगा। उसका नाम शीला देवी हो रहेगा। और तब तक मैं इस नाम को इतना प्रसिद्ध कर दूँगा कि उसे लिखने और छपने में कोई कठिनाई न हो।

बहरहाल, जब पत्र संशोधित हो गया तो मैंने उसे छोटे-छोटे सुन्दर अक्षरों में उस सुगन्धित गुलाबी पैड पर उतारा; नीचे शीला देवी के हस्ताक्षर बनाये; लिफ़ाफ़े पर इनाक्षी रामाराव का पता लिखा; दूसरे कोने पर 'श्रीमती शीला देवी कुमुद बी० ए०, द्वारा श्री उपेन्द्रनाथ अश्क बी० ए०,' लिख कर बड़ी सफ़ाई से टिकट चस्पाँ कर, लिफ़ाफ़ा स्वयं जा कर डाकखाने में छोड़ आया। तब तक मैं बी० ए० नहीं हुआ था, लेकिन मुझे पूरी उम्मीद थी कि मैं पास हो जाऊँगा। फिर बी० ए० पास पत्नी के पति को कम-से-कम बी० ए० तो होना ही चाहिए था।

वापसी डाक एक पैकेट में चिकने, चमकदार काग़ज़ पर इनाक्षी रामाराव का एक बहुत ही ख़ूबसूरत हस्ताक्षरित चित्र आ गया। ज्योंही मैंने पैकेट खोला मैं चित्र ले कर हसीब के घर की तरफ़ भागा।

चित्र को देख कर हसीब अवाक उसे देखता रह गया। उसने चित्र माँगा। पर सच्ची बात यह है कि उस चित्र को देखते ही उस पर मेरा मन आ गया था और मैं चाहता था, उसे अपनी स्टडी में टाँगूँ। मैंने हसीब से कहा, "अव्वल तो चित्र मँगा कर दिखाने की शर्त थी, देने की नहीं। फिर इसके पीछे इनाक्षी ने इसे मेरी बीवी के नाम भेंट करते हुए हस्ताक्षर किये है। मैं दूँ भी तो तुम्हें इसे नहीं रखना चाहिए।"

"तुम्हारी बीवी," हसीब ने हैरत से कहा, "तुम तो छड़े याने कुँवारे हो।"

"अभी हूँ," मैंने कहा, "लेकिन जल्द हो मेरी शादी होने वाली है और मेरी बीवी का नाम शीला देवी है। वह कहानी लेखिका और शायरा है और उसका तख़ल्लुस 'कुमुद' है।" मैंने गप हाँक दी।

हसीब को यकीन नहीं आया। काफ़ी परेशान करके मैंने उसको सब कुछ बता दिया। उसने मेरी चतुराई की ख़ूब दाद दी। सौभाग्य से 'इम्पीरियल फ़िल्म कम्पनी' की एक नयी फ़िल्म शहर में लगी हुई थी और उन दिनों सुलोचना प्रायः उनकी हर पिक्चर में आती थी। हसीब ख़ुश हो कर मुझे फ़िल्म दिखाने ले गया।

इस किस्से पर टिप्पणी सिर्फ़ इतनी ही है कि जिस अभिनेत्री के बारे में हसीब ने यह भविष्यवाणी की थी कि वह फ़िल्मों में क्रान्ति ला देगी, उसने एक फ़िल्म ही पूरी की। फिर निर्देशक भवनानी से उसने शादी कर ली और जहाँ तक मुझे याद पड़ता है, फिर उनका नाम भी कभी सामने नहीं आया, क्योंकि भवनानी साहब किसी सरकारी फ़िल्मी संस्था मे जुड़ गये।

ठरकी सम्पादक

एक तीर से दो, और सम्भव हो तो तीन-चार शिकार करने की आदत भी मेरी नयी नहीं, बहुत पुरानी है। शीला देवी 'कुमुद' का नाम तो मैंने इनाक्षी रामाराव से चित्र मँगाने के लिए ईजाद किया था, लेकिन जब वापसी डाक इनाक्षी की तस्वीर आ गयी तो मेरा हौसला बढ़ा और मैंने शीला देवी के छद्म नाम से बराबर लिखने का निश्चय किया। अब के हसीब भी साथ मिल गया। हम इस छद्म नाम से लगातार फ़िल्मी पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों के नाम पत्रों और आलोचनाओं के गोले बरसाने लगे। मज़े की बात यह है कि हमारे गोले निशाने पर भी लगने लगे। लगभग सभी फ़िल्मी पत्रिकाओं में शीला देवी 'कुमुद', बी० ए० की लेखनी से कुछ-न-कुछ छपने लगा।

इस बीच हमने यह भी किया कि शीला देवी 'कुमुद' के लेखों की बदौलत – पत्र-पत्रिकाओं के वे अंक दिखा कर जिनमें उसके पत्र, आलोचनाएँ अथवा लेख छपे थे – शहर के एक-मात्र सिनेमा हॉल के मालिक लाला सोहन लाल पर कुछ ऐसा रोब ग़ालिब किया कि एक शाम उसने मुझे सपत्नीक नयी फ़िल्म देखने की दावत दी। पत्नी तो मैं कहाँ से लाता? उसकी अनुपस्थिति का मैंने बहाना बना दिया कि रिसर्च करने लाहौर गयी हुई है और स्वयं मज़े से मुफ़्त सिनेमा देखने लगा। अच्छी फ़िल्म लगती तो मैं हसीब को भी दिखाता। हम दोनों फ़िल्में देखते और बड़ी ऊँचाई से उनकी आलोचना लिख कर पत्र-पत्रिकाओं में शीला देवी 'कुमुद' के नाम से भेजते।

कलकत्ते के 'फ़िल्म लैण्ड' ने मुझे (यानी शीला देवी 'कुमुद' को) ज़्यादा लिफ़्ट नहीं दी, लेकिन बम्बई के 'मूवी मिरर' के उप-सम्पादक ने स्वयं एक फ़िल्मी कहानी लिख कर शीला देवी 'कुमुद' के नाम से छाप दी और लाहौर की फ़िल्मी पत्रिका के सम्पादक बी० आर० ओबराय ने तो न केवल मेरे पत्र और लेख छापे, वरन मुझे फ़िल्मी तकनीक पर कुछ पुस्तकें भी भेजीं और उनसे पत्र-व्यवहार भी शुरू हो गया।

ये बी० आर० ओबराय कुछ ठरकी किस्म के सम्पादक थे। साथ ही नार्सिसस ग्रन्थि के शिकार! उनकी पत्रिका में हर दूसरे-तीसरे महीने बीच के किसी पृष्ठ

पर उनका पूरा चित्र रहता – बाकायदा सूट-बूट पहने और उस ज़माने के फ़ैशन के मुताबिक बड़े-बड़े गलमुच्छे रखे। कभी बस्ट, कभी प्रोफ़ाइल। मैं औरत होता तो शायद उनके चक्कर में फँस जाता, लेकिन तब उन पर दया आती और उन्हें उलझाये रखने और बेवकूफ़ बनाने में मज़ा!

वे पत्र कुछ यों लिखते कि – मैं काम से जालन्धर आ रहा हूँ, अमुक होटल में ठहरूँगा और मिलना चाहूँगा, पत्रिका को और भी उपादेय बनाने के लिए आपके सुझाव चाहिएँ। अथवा, पत्रिका का विशेषांक छप रहा है, जालन्धर से गुज़र रहा हूँ, चन्द मिनटों के लिए आपका इण्टर्व्यू लेना चाहूँगा, आदि....आदि.... मैं उन्हीं इत्र-लगे गुलाबी पैड के पन्नों पर, न मिल सकने के सन्दर्भ में, हर बार नये और प्यारे झूठ लिख भेजता और मन-ही-मन खूब हँसता।

देसराज का कमाल

इस बीच मैं लाहौर चला गया और उर्दू पत्रकार जगत में स्थान बनाने के लिए संघर्ष करने लगा। तब मैंने ओबराय साहब के नाम शीला देवी की ओर से एक पत्र में निहायत सरसरी तौर पर इस बात का उल्लेख कर दिया कि मेरे पति लाहौर जा रहे हैं, एक उर्दू दैनिक पत्र में काम करने की ग़रज़ से और यदि वे लाहौर में जम गये तो शायद मैं (शीला देवी) भी वहाँ के किसी स्कूल में नौकरी ढूंढ कर वहाँ शिफ़्ट कर जाऊँ!

मुझे याद है, मैं 'बन्दे मातरम' लाहौर में काम करने लगा था, जब शीला देवी 'कुमुद' के नाम से ओबराय साहब का एक पत्र जालन्धर से रिडायरेक्ट हो कर आया। वे अपनी पत्रिका का विशेषांक निकालने जा रहे थे और उन्होंने लेख और फ़ोटो की माँग की थी। तब मैंने (शीला देवी ने) उन्हें लिखा कि मेरे पति भी बहुत अच्छे लेखक और कथाकार हैं और यदि आपको आपत्ति न हो तो मैं एक लेख उनसे भी लिखवा कर भेज दूँ। वापसी डाक उनकी स्वीकृति आ गयी। तब मैंने अपने दोस्त 'ग़ैरमारूफ़ जर्नलिस्ट' (अख्यात पत्रकार) की सहायता से दो लेख तैयार किये। एक शीला देवी 'कुमुद', बी० ए० के नाम से और एक उपिन्दरनाथ 'अश्क', बी० ए०, जालन्धरी के नाम से।

'ग़ैरमारूफ़ जर्नलिस्ट' का असली नाम पण्डित रतनचन्द मोहन था। वे प्रेस इन्फ़र्मेशन ब्यूरो में अनुवादक थे और उन्हें अंग्रेज़ी पर पूरा अधिकार था। लेख तैयार हो गये तो जालन्धर जा कर मैंने उन्हें वहाँ से पोस्ट कर दिया। ओबराय साहब ने लेख स्वीकृत कर लिये और वृहद विशेषांक की बात लिखते हुए चित्रों की फ़रमायश की।

अपना फ़ोटो खिचवाना तो ख़ैर कोई मुश्किल बात न थी, लेकिन शीला देवी

'कुमुद' का फ़ोटो मैं कहाँ से लाता? उसका तो अस्तित्व ही नहीं था। लेकिन मैं फ़ोटो भेजना ज़रूर चाहता था। उन दिनों मेरे सिर पर, कानों की लवों को ढँकते हुए, लम्बे-घुँघराले बाल थे। मैं अपने फ़ोटोग्राफ़र दोस्त देसराज के यहाँ गया कि उससे राय लूँ – शायद कोई सूरत निकल आये!

देसराज बहुत अच्छा फ़ोटोग्राफ़र था। ऊपर से अदीबों में बैठने-उठने वाला! अनारकली में उसका स्टूडियो था। काले अचकन और टोपी में मेरा एक बहुत खूबसूरत फ़ोटो उसने खींचा था, जो उसने अपने स्टूडियो में लगा रखा था।

मैंने उसके सामने अपनी समस्या रखी। कहा, "मेरे बहुत लम्बे बाल हैं, क्या ऐसा नहीं हो सकता कि साड़ी पहन कर मैं ही एक फ़ोटो खिंचवा लूँ और बी० आर० ओबराय को भेज दूँ।"

"क्यों नहीं हो सकता।" उसने हँस कर कहा, "मैं ऐसा फ़ोटो खींच दूँगा कि आपके वालिद मोहतरम (पिता श्री) भी देखें तो पहचान न पायें।"

और सचमुच मेरे लम्बे-लम्बे बालों में कंघी से तिरछी माँग निकाल, हल्का-सा लहरिया दे कर और क्लिप लगा कर उसने पीछे की ओर बाँध दिया। फिर घर के अन्दर से अपनी पत्नी की एक बढ़िया साड़ी ला कर उसने मुझे पहना दी, कानों में बड़े मोतियों के क्लिप वाले टॉप्स पहनाये और प्रोफ़ाइल खींचा। वह चित्र बहुत सुन्दर उतरा। तब मैंने सूट-बूट टाई में अपना एक बस्ट खिंचवाया। उसमें मेरे लम्बे-लम्बे, कद्रे घुँघराले बाल मेरे कानों को ढके हुए थे। दोनों फ़ोटो मैंने श्री बी० आर० ओबराय को भेज दिये और वे लेखों के साथ विशेषांक में छप गये।

साड़ी में अपना वह पोज़ मुझे इतना अच्छा लगा कि मैंने उसे छोटे-से फ़्रेम में मढ़वा कर चंगड़ मुहल्ले के अपने कमरे की बे-किवाड़ों की अलमारी में रख दिया। देसराज ने ठीक कहा था – मेरी शादी के सिलसिले में मेरे पिता लाहौर आये तो वे उस चित्र को देख कर मुझे नहीं पहचान पाये।

प्रेमचन्द की व्यथा

हालाँकि लाहौर में नौकरी करने के कारण स्थिति थोड़ी विषम हो गयी थी, लेकिन यदि उस साल मेरी शादी न हो जाती तो न जाने मैं उस ठरकी सम्पादक को और कितना बनाता। लेकिन उसी साल मेरी शादी हो गयी। मेरी पत्नी का नाम शीला देवी ही निकला। बी० ए०, एम० ए० तो दूर, दुर्भाग्य से वह सिर्फ़ पाँच जमात पास थी और कविता-कहानी और आलोचनाएँ लिखना दरकिनार, वह उन्हें समझ भी न सकती थी।

तब बी० आर० ओबराय और उनकी फ़िल्मी पत्रिका को उनके हाल पर



छोड़ कर, मैंने एक ओर अपनी पत्नी को सुशिक्षित और सुसंस्कृत बनाने का फ़ैसला किया, दूसरी ओर लाहौर में अपनी आर्थिक स्थिति को किंचित सुदृढ़ करने का। पहले उद्देश्य की पूर्ति के लिए मैंने पत्नी को पढ़ाना शुरू कर दिया, दूसरे की ख़ातिर अपने डेण्टिस्ट भाई को लाहौर ले आया, उन्हें जमाने के लिए सिर-तोड़ कोशिश की और उनके कुछ जम जाने पर लॉ कॉलेज में नाम लिखा लिया।

प्रकट है – इस घोर संघर्ष-भरे जीवन में फ़िल्मों के लिए कोई स्थान न रहा। मुझे याद नहीं कि १९३२ से '३६ तक मैंने चार-पाँच से ज़्यादा फ़िल्में देखी हों। उनमें भी कोई फ़िल्म भायी हो अथवा याद रह गयी हो, इसकी कोई स्मृति नहीं। लाहौर में इस बीच दो-एक फ़िल्म कम्पनियाँ भी खुलीं। एकाध, बिना कोई पिक्चर सिरे चढ़ाये, बिसात उलट गयी। एकाध ने जो फ़िल्म बनायी, वह निहायत हास्यास्पद लगी और उसकी कोई याद स्मृति-पट पर शेष नहीं। और जहाँ तक बम्बई के ग्लैमर का ताल्लुक है, उसे प्रेमचन्द ने अपने एक लम्बे पत्र से हमेशा-हमेशा के लिए ख़त्म कर दिया।

मैं उन दिनों लॉ कॉलेज में पढ़ता था, जब अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में (प्रमुखतः साप्ताहिक 'जागरण' के ख़सारे को पूरा करने के लिए) प्रेमचन्द फ़िल्मी दुनिया में गये थे। मेरे साथ उनका पत्र-व्यवहार १९३१ से था। वे हमेशा मुझे उर्दू में पत्र लिखते थे। मुझे सन् याद नहीं रहा, कदाचित १९३५ की बात है, मेरी एक कहानी – 'प्रेम की वेदी' – 'सरस्वती' में छपी थी और दूसरी – 'निशानियाँ' – मैंने प्रेमचन्द को भेजी थी, जो उन्होंने 'हंस' में छापी। तभी बम्बई से उन्होंने मुझे एक लम्बा पत्र लिखा था। (दुर्भाग्य से वह मेरे पास से खो गया। लेकिन मदन गोपाल के पास उसकी प्रतिलिपि सुरक्षित है। मुझे उसकी इबारत याद नहीं, लेकिन उसका भावार्थ हमेशा के लिए मेरे ज़ेहन पर नक्श हो गया।)

उस पत्र में उन्होंने 'निशानियाँ' की प्रशंसा करते हुए 'सरस्वती' की कहानी की भाषा पर आपत्ति की थी और मुझे भाषा के बारे वह सूत्र लिख भेजा था, जिसने उस सिलसिले में हमेशा मेरा पथ-निर्देश किया। 'अंग्रेज़ी, फ़ारसी, अरबी या संस्कृत – लफ़्ज़ कहीं से भी लिया जाय,' उन्होंने लिखा था, 'देखना यह चाहिए कि ख़यालात का तसलसुल और तहरीर की रवानी (याने विचारों का क्रम और भाषा की प्रवहमानता) कायम रहे।'

इसी पत्र में फ़िल्मों के सन्दर्भ में उन्होंने अपनी व्यथा व्यक्त की थी कि यहाँ (बम्बई की फ़िल्मी दुनिया में) लेखक को कोई नहीं पूछता। डायरेक्टर मनमानी करते हैं। चाहते हैं तो कहानी काट-छाँट देते हैं, चाहते हैं तो सम्वाद बदल देते हैं।...और उन्होंने सूचना दी थी कि वे तो जल्द ही इस फ़िल्मी दुनिया से

छुटकारा पा कर अपने उसी गोशा-ए-आफ़ियत* में चले जायेंगे।

तब प्रेमचन्द और फ़िल्मों को ले कर इतनी बातें सुनीं-पढ़ीं कि फ़िल्मी दुनिया का वह सारा ग्लैमर हवा हो गया, जो कॉलेज के दिनों में दिल-दिमाग़ पर हावी था। मेरी ज़िन्दगी की धारा भी बदल गयी, उद्देश्य भी बदल गया और फ़िल्मी दुनिया में जाने की बात ऐसे मन से निकल गयी, जैसे उसका कहीं अस्तित्व नहीं था।

एक दशक का अन्तराल

लेकिन प्रेमचन्द के इस पत्र के पूरे एक दशक बाद मैं फ़िल्मी दुनिया में गया। अजीब बात है कि अपनी पहली पत्नी को शिक्षित और सुसंस्कृत बनाने और अपने समाज में उसकी प्रतिष्ठा बनाने के ख़याल से मैंने फ़िल्मी दुनिया से मुँह मोड़ा और क़ानून की शिक्षा ली, लेकिन अपनी तीसरी पत्नी की आँखों में स्वयं अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए मैं उस वक़्त फ़िल्मों में चला गया, जब मेरे मन में उस संसार की चकाचौंध के प्रति न किसी तरह का मोह था, न ललक, न लालच।

बात यह थी कि (जैसा कि मैंने श्रीराम विद्यार्थी के इण्टरव्यू में सविस्तार उल्लेख किया है[1]) मेरी तीसरी पत्नी ने अपनी रोमानियत में (मेरे कवि रूप से प्रभावित हो कर) मुझसे शादी तो कर ली, लेकिन चूँकि वह एक सम्भ्रान्त घराने से ताल्लुक रखती थी, इसलिए स्वभावतः उसे मेरे रहन-सहन का स्तर खलने लगा। वह उसे अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं और सपनों के स्तर से बहुत नीचा लगता था। लेकिन उस वक़्त तक मेरे सामने ज़िन्दगी का उद्देश्य बिल्कुल स्पष्ट हो चुका था और साहित्यकार के नाते अपना वह स्तर मुझे पसन्द था और महज स्तर को बढ़ाने के लिए – याने बढ़िया कपड़े या बिस्तर या आला फ़र्निचर या मोटर आदि के लिए – खटना मुझे गौण उद्देश्यों के लिए कीमती वक़्त बर्बाद करने के बराबर लगता था[2]। लेकिन मेरी पत्नी को मेरा स्तर बहुत ही नीचा, लगभग गँवारों ऐसा, दिखायी देता था। और जब उसने उसे उठाने के लिए नौकरी कर

---

* शान्ति निकुंज। उनका अभिप्राय बनारस से था।

१ यह इण्टरव्यू इसी पुस्तक के दूसरे खण्ड में संकलित है।

२ रवीन्द्र कालिया ने अपने एक आत्म-कथ्य में मेरे इस मत की माहीयत को समझे बिना, इसका मज़ाक उड़ाते हुए लिखा है – अश्क जी मुझे (कालिया), दूधनाथसिंह, आदि अन्य युवा साहित्यकारों को फ़्रिज, कूलर, फ़र्निचर, स्टीरियो, वग़ैरा के लिए न खटने का उपदेश देते हैं, जबकि स्वयं बंगला, कूलर और

ली और वह उस स्तर को धीरे-धीरे बदलने लगी और मैं परेशान होने लगा तो मैंने तय किया कि मैं पहले उसे यह दिखा दूँ कि मैं चाहूँ तो खूब रुपया कमा सकता हूँ, पर चाहता नहीं। और मैंने 'फ़िल्मिस्तान' की ऑफ़र स्वीकार कर ली और बम्बई चला गया।

मैं 'फ़िल्मिस्तान' में पूरे दो वर्ष रहा। चूँकि फ़िल्मी-दुनिया में जमना मेरा उद्देश्य नहीं था। मैं वहाँ सिर्फ़ पैसा कमाने गया था, इसलिए सम्वाद-लेखक-निर्देशक के रूप में काम करने के अलावा (कि जिस हैसियत में वहाँ मैं मुलाज़िम हुआ था) मैंने फ़िल्मी कहानियाँ भी लिखीं, गीत-ग़ज़लें भी लिखीं और दो फ़िल्मों में अभिनय भी किया। उस ज़िन्दगी के बारे में मुझे इतनी बातें याद हैं कि मैं लिखता चला जाऊँ तो, मुहावरे की भाषा में, दफ़्तर-के-दफ़्तर सियाह हो जायें। फ़िल्म की नौकरी छोड़ देने के बाद भी कृष्ण, बेदी, ए० बी० सरन, आदि मित्रों के कारण उस दुनिया से मेरा सम्पर्क बना रहा — लेकिन मैं केवल उन चन्द घटनाओं या व्यक्तियों या दृश्यों के बारे में लिखूँगा, जो मुझे बार-बार याद आते रहे अथवा वे, जिनके कारण फ़िल्मी दुनिया को अन्ततः छोड़ देने के बारे में मेरे निर्णय को बल मिला।

लेकिन इससे पहले कि मैं उन दो वर्षों की झलकियाँ दूँ, मैं इस बीच के दशक की फ़िल्मी प्रवृत्तियों और कुछ महत्वपूर्ण फ़िल्मों अथवा कुछ दृश्यों का उल्लेख करूँगा, जो मेरी याद के पर्दे पर अमिट नक्श छोड़ गये।

* *

फ्रिज रखे हुए हैं। कोई पूछे तो कहते हैं कि अरे भाई, यह सब तो कौशल्या का है, आदि...आदि....

कालिया और दूधनाथ सिंह (और उनसे पहले राकेश, राजेन्द्र और मन्नू) जो बात नहीं समझते रहे, वह यह है कि मुझे सुख-आराम की किसी चीज़ से नफ़रत नहीं, यदि वह मेरी किसी मौलिक रचना के पारिश्रमिक अथवा रायल्टी से ख़रीदी जा सके। लेकिन यदि मैं अपना वह निहायत बहुमूल्य समय, जो ज़िन्दगी की नितान्त आवश्यक चीज़ों की प्राप्ति के लिए की जाने वाले नौकरी या किसी अन्य व्यवसाय के बाद मेरे पास बचता है, महज़ अतिरिक्त सुविधाएँ जुटाने के लिए लगाता हूँ तो अपनी सर्जना की कीमत पर ही ऐसा करता हूँ। फिर अगर ज़िन्दगी के अन्तिम वर्षों में मेरी रायल्टी इतनी आने लगी है कि उससे कुछ सुख-सुविधा की चीज़ें मेरे घर में आ जायें तो उससे मेरी वह बात ग़लत नहीं हो जाती।

स्वच्छ हवा के झोंके

पिछले कुछ वर्षों में जैसे घिसी-पिटी फ़ार्मूला-फ़िल्मों की सड़ी-बुसी फ़िज़ा में श्याम बेनेगल, बासू भट्टाचार्य या मृणाल सेन अथवा गुलज़ार की कुछ फ़िल्में हवा के स्वच्छ झोंकों-सी आयीं, उसी तरह उस ज़माने में भी 'हीर राँझा,' 'शीरों फ़रहाद,' 'राजा भर्तृहरि,' 'राजा गोपीचन्द,' 'विलासी ईश्वर,' 'बैरिस्टर की पत्नी,' 'हण्टरवाली,' आदि — अर्ध-ऐतिहासिक, अर्ध-सामाजिक, अर्ध-धार्मिक या अर्ध-सेक्सी फ़िल्मों की दम-घोंटू फ़िज़ा में 'न्यू-थिएटर्स,' 'प्रभात' और 'बॉम्बे टॉकीज़' की कुछ फ़िल्में हवा के स्वच्छ झोंकों-सी आयी थीं और कुछ वर्ष तक दर्शकों के मन-प्राण उनके सुखद स्पर्श से हर्षाते रहे थे।

उन चन्द फ़िल्मों का उल्लेख करने से पहले मैं यह कहना चाहता हूँ कि ज़िन्दगी के संघर्ष, कानून की पढ़ाई और फिर पत्नी की बीमारी के कारण मैं ज़्यादा फ़िल्में नहीं देख सका। मुझे याद है, जब १९३२ में सुदर्शन जी कलकत्ते की फ़िल्मी दुनिया में चले गये, तो उन्होंने कुछ बहुत अच्छी फ़िल्मों की कहानियाँ लिखी थीं। १९३३-३४ में डायरेक्टर देवकी बोस, नीतिन बोस, शान्ताराम और मोहन भवनानी ने क्रमशः 'राजरानी सीता,' 'धूप छाँव' और 'चण्डीदास;' 'माया मच्छिन्दर' और 'जलती निशानी' और 'अमृत मन्थन' तथा 'वसन्तसेना' जैसी फ़िल्में बनायीं, जो पहली फ़िल्मों से भिन्न थीं और नये युग के आविर्भाव का

बड़ी, होंट पतले, माथा चौड़ा। यों तो उन्होंने कई फ़िल्मों का निर्माण किया था, लेकिन लोकप्रिय और चर्चित केवल देवदास,' 'मुक्ति' और 'जवाब' ही हुई थीं।

'देवदास' शरत के एक उपन्यास की कहानी पर बनी, उस वर्ष की सर्वाधिक सफल फ़िल्म थी। वह शायद १९३५ में बनी थी, लेकिन मैं उसे तत्काल नहीं देख सका। जब वह माल रोड लाहौर के सिनेमा हाल में जुबली मना कर भाटी गेट के सिनेमा में लगी तो उसके बारे में जनता के जुनून को देख कर, उत्सुकतावश मैं भी उसे देखने गया। पारो (पार्वती) की भूमिका में जमुना, चन्द्रमुखी की भूमिका में राजकुमारी, देवदास की भूमिका में सहगल और पारो के सौतेले बड़े लड़के की भूमिका में स्वयं बरुआ उतरे थे। उस फ़िल्म के सभी गाने हिट हुए थे। मैं जिस शाम फ़िल्म देखने गया था, मेरे साथ की कुर्सी पर जो युवक बैठा था, वह इक्कीसवीं बार फ़िल्म देखने आया था। उस फ़िल्म के गाने :

बालम आये बसो मोरे मन में

और

दुख के अब दिन बीतत नाहीं

अर्से तक लोगों की ज़बान पर रहे थे। जहाँ तक मुझे याद पड़ता है, चन्द्रमुखी की भूमिका में राजकुमारी ने अविस्मरणीय काम किया था। उसकी शक्ल मुझे आज तक याद है।

इस फ़िल्म ने सहगल और बरुआ, दोनों को भारतीय फ़िल्मों के इतिहास में अमर बना दिया। सहगल ने उसमें बहुत ही सहज ढंग से अभिनय किया था।

चूँकि मैं शरत बाबू का उपन्यास पढ़ चुका था, इसलिए फ़िल्म मुझे अच्छी लगी थी, लेकिन चूँकि न मैं स्वयं वैसा लैला-मजनूँ वाला प्यार कर सकता हूँ और न मुझे वैसे प्रेमी ही पसन्द हैं, मैं दोबारा वह फ़िल्म देखने नहीं गया। यही नहीं, जब लगभग दो दशकों के बाद विमल राय ने फिर 'देवदास' बनायी तो मैं उसे भी नहीं देखने गया। कमलेश्वर उन दिनों प्रेम के चक्कर में बुरी तरह फँसे थे और बार-बार 'देवदास' देख रहे थे।

'मुक्ति' और 'जवाब'

'देवदास' के बाद बरुआ ने 'मंज़िल' बनायी, जो शरत बाबू के उपन्यास 'गृहदाह' पर आधारित थी। उसमें अमीर मित्र की भूमिका में पृथ्वीराज कपूर और ग़रीब की भूमिका में स्वयं बरुआ उतरे थे। फ़िल्म साफ़-सुथरी थी। तब अच्छी भी लगी थी। आज उसकी कोई स्मृति नहीं। लेकिन उसके बाद ही बरुआ ने 'मुक्ति' और फिर 'जवाब' - दो फ़िल्में ऐसी बनायीं, जो बहुत पसन्द की गयीं।

'मुक्ति' की याद आते ही सत्यनारायण कविरत्न के एक गीत का मुखड़ा याद आता है, जो कवि के अपने जीवन की त्रासदी की ओर संकेत करता था :

भयो क्यों अनचाहत सों संग

'मुक्ति' की कहानी उसी अनचाहत के संग और मृत्यु द्वारा उससे मुक्ति की दर्द-भरी कहानी थी। एक बड़े अमीर बाप की बेटी (कानन बाला) एक ग़रीब, बेपरवा, लाउबाली कलाकार (बरुआ) से प्रेम-विवाह कर लेती है, जिसे उसका धनी पिता (नीमो) पसन्द नहीं करता।

'मुक्ति' बहुत ही साफ़ और स्लिक फ़िल्म थी। मुझे आज इतने वर्ष बीत जाने पर भी उसका अन्तिम दृश्य ऐसे याद है, जैसे कल मेरे सामने घटा हो....

....कानन के पिता नीमो, अपने मित्र के साथ बिलियर्ड खेल रहे हैं। वे अपने सिर-फिरे आर्टिस्ट दामाद (बरुआ) के चंगुल से अपनी लाड़ली बेटी (कानन बाला) की मुक्ति चाहते रहे हैं। लेकिन हिन्दू विवाह चूँकि टूटता नहीं और कानन दिल में अपने पति को चाहती है (पर अपने अहं से विवश पिता के घर बैठी है) इसलिए वे परेशान हैं। तभी उनका दामाद, जो इस बीच बहुत बीमार रहा है, मरणासन्न अवस्था में आता है। उसके मित्र उसे सहारे से खड़ा करते हैं, लेकिन वह गिर जाता है। ऐन उस वक्त कानन बढ़ कर उसे थाम लेती है और फ़र्श पर बैठ कर उसका सिर अपनी गोद में रख लेती है। क्षण भर बाद उसके सिर पर हाथ फेरते हुए वह पूछती है, "ये सब नाज किससे ?"

"मेरे नाज तो कोई उठाने वाला नहीं था।" उपेक्षित पति कहता है और उसकी गर्दन लुढ़क जाती है।

यद्यपि इस दृश्य में हल्की-सी बनावट थी, पर वह जस-का-तस दिमाग़ के पर्दे पर अंकित है।

'मुक्ति' के बाद बरुआ ने 'अधिकार' बनायी' और फिर दो-तीन वर्ष बाद 'जवाब'! 'देवदास' के बाद 'जवाब' बरुआ की अत्यन्त लोकप्रिय फ़िल्म थी। उसमें एक भुलक्कड़ युवा ज़मींदार की भूमिका में बरुआ स्वयं उतरे थे। आधुनिका की भूमिका में जमुना थी, जिससे भुलक्कड़ ज़मींदार की सगाई हो गयी थी। लेकिन सगाई के बाद ज़मींदार कहीं बाहर जाता है, और वहाँ एक ग़रीब लड़की (कानन बाला) से प्यार करने लगता है और अन्ततः उससे शादी कर लेता है।

अन्तिम दृश्य में जमुना स्वयं दुल्हन को सजा-बजा देती है और चुपचाप उसकी ज़िन्दगी से निकल जाती है। बैक-ग्राउण्ड में गाना 'दुल्हनिया छमाछम छमाछम चली' चलता रहता है और जमुना निराश सीढ़ियाँ उतर कर गलियारे से बढ़ी जाती है, जब फ़िल्म ख़त्म हो जाती है।

न केवल बरुआ ने इस फ़िल्म की पटकथा लिखी थी, इसमें नायक की भूमिका

की थी, बल्कि इसका निर्देशन और फ़ोटोग्राफ़ी भी स्वयं देखी । 'जवाब' के गीतों की धुनें बड़ी प्यारी थी और वह आद्यन्त से एक प्रेम-पगी संगीतमय फ़िल्म थी ।

देवकी बोस की 'विद्यापति'

'मुक्ति' के बाद और 'जवाब' से पहले देवकी बोस की एक फ़िल्म आयी – 'विद्यापति' ! वास्तव में तब तक देवकी बोस और बरुआ का इतना नाम हो गया था कि उनकी कोई भी पिक्चर आये, पढ़े-लिखों के लिए 'मस्ट' थी । शान्ताराम की तरह इन दोनों का ज़ोर उद्देश्य पर उतना नहीं था, जितना कला पर ! दोनों दो-दो, तीन-तीन वर्ष में पिक्चर पूरी करते और फिर वर्षों तक उसकी चर्चा रहती । दोनों के अपने-अपने फ़न थे, लेकिन मैं समझता हूँ, दोनों में चुनाव मुश्किल था । दोनों अपने फ़न के उस्ताद थे । तो भी देवकी बोस में चातुरी या वह जिसे अंग्रेज़ी में कहते हैं – फ़िनेस ज़रा ज़्यादा थी ।

'विद्यापति' में एक उदारचेता कला-प्रेमी राजा था, एक उसकी रानी थी, एक कवि था और कवि पर अनन्य श्रद्धा रखने वाली अनुराधा थी (जो पीछे कवि के गाँव में छूट गयी थी । पृथ्वीराज कपूर राजा की भूमिका में उतरे थे, अभिनेत्री छाया – रानी की, पहाड़ी सान्याल – कवि विद्यापति की और कानन बाला – कवि से प्यार करने वाली, आश्रम-वासिनी अनुराधा की !

उस फ़िल्म में निर्देशक ने कवि की उस प्रेरणा का उत्स खोजने का प्रयास किया था, जिसने कवि विद्यापति से, राधा-कृष्ण के ब्याज से, मानवीय प्रेम के शृंगार-रस से भरपूर गीत लिखवाये ।

आज इतने वर्ष बीत जाने पर 'विद्यापति' की कहानी पूरी याद नहीं । केवल अभिनेताओं की शक्लें याद हैं और याद हैं वे प्राकृतिक दृश्य, जिनमें कवि और अनुराधा रमते थे । या केवल धोती के फेंटे में कसा, अध-ढँका, कानन बाला का सहज, लेकिन सुन्दर और उत्तेजक रूप और गीत, जो वह कवि के विरह में गाती है :

डोले हृदय की नैया

इसकी धुन और कानन बाला की आवाज़ इतनी मनमोहक थी कि वह हिट हो गया था । उस अन्तिम गाने की भी मुझे याद है, जो अनुराधा विद्यापति को जाने से रोकने के लिए गाती है :

जाने न दूँगी न जाने दूँगी
रथ के नीचे प्राण तजूँगी

अपने उसी एक धोती में कसे तन में, नंगे पाँव रथ के साथ-साथ भागती हुई, अनुनय करती हुई, वह आज भी आँखों में आती है....

कानन बाला फिर वैसी एकवस्त्रा छवि में नहीं आयी और उस फ़िल्म का प्रभाव मैंने यों देखा कि मेरी एक निकट सम्बन्धी रोमानी स्वभाव वाली सुन्दर महिला 'विद्यापति' देखने के बाद अपने आपको छाया समझने लगीं और अपने उदार पति के एक मित्र को उन्होंने विद्यापति का स्थान दे दिया और उम्र भर दिये रखा ।

शान्ताराम का 'आदमी'

लेकिन इन तमाम फ़िल्मों में से, जिस फ़िल्म ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया, ज़िन्दगी को समझने और ज़िन्दगी का उद्देश्य तय करने में मदद दी और मेरे विचारों पर जिसका असर आज भी है, वह थी शान्ताराम की फ़िल्म – 'आदमी' ।

आज सोचता हूँ तो लगता है, शान्ताराम ने 'आदमी' को बरुआ की 'देवदास' के जवाब में बनाया था । उसके माध्यम से जैसे वे, 'देवदास' के आत्मघाती प्यार की आलोचना करते हुए, यह कहना चाहते थे कि ज़िन्दगी प्यार में मरने के लिए नहीं है, प्यार की प्रेरणा से और हुमक कर जीने के लिए है ।

उस फ़िल्म से प्रभावित हो कर मैंने बाद में शान्ताराम की बहुत-सी फ़िल्में देखीं – 'दुनिया न माने,' 'पड़ोसी,' 'डॉ० कोटनिस की अमर कहानी,' 'तीन बत्ती चार रास्ता,' 'तूफ़ान और दिया,' 'दो आँखें बारह हाथ,' 'झनक झनक पायल बाजे,' आदि...। यद्यपि 'दुनिया न माने' में वासन्ती, 'पड़ोसी' में मज़हर ख़ाँ और जागीरदार, 'डॉ० कोटनिस की अमर कहानी' में जयश्री और शान्ताराम तथा 'तीन बत्ती चार रास्ता' में सन्ध्या के अभिनय और 'झनक झनक पायल बाजे' में गोपीकृष्ण के नृत्य की याद मुझे आज तक है और 'तूफ़ान और दिया' में भरत व्यास का लिखा गीत आज भी कानों में गूँजता है, लेकिन इनमें से किसी फ़िल्म का मुझ पर उतना प्रभाव नहीं पड़ा, जितना 'आदमी' का ।

लॉ कालेज में दाखिल होने के कुछ ही महीने बाद, चूँकि मेरी पहली पत्नी बीमार रहने लगी थी, मेरा आर्थिक संघर्ष बहुत तीव्र हो गया था, इसलिए फ़िल्म-इल्म देखना मैंने लगभग छोड़ दिया था । एल० एल० बी० में दाखिल हुआ तो पत्नी को डॉक्टरों ने यक्ष्मा बता दिया । मैं उसे लाहौर ले गया । पत्रकार के नाते अपने रसूख़ से काम ले कर मैंने उसे गुलाब देवी टी० बी० हस्पताल लाहौर में दाखिल करा दिया । कॉलेज की फ़ीस जुटाने को ट्यूशन ले ली । किताबों की समस्या कानूनी पुस्तकें बेचने वाले, कहानियों के प्रशंसक, एक दुकानदार – श्री पुरी –

ने हल कर दी; उनकी दुकान के पीछे बैठ मैं किताबें पढ़ता था। क़ानून तो मैंने डिस्टिंक्शन से पास कर लिया, पर पत्नी को नहीं बचा सका।

मेरी पहली पत्नी बहुत ही भोली, उदार और हँसमुख थी। मैंने उसे बचाने की बहुत कोशिश की। पर तब यक्ष्मा घातक रोग था। मई में मैंने क़ानून पास किया, दिसम्बर में वह चली गयी। मैं बेहद निराश हो गया। ज़िन्दगी मुझे नितान्त अर्थहीन दिखायी देने लगी। उन दिनों, जब मैंने कम्पीटीशन में बैठने का इरादा छोड़ दिया था, क़ानून की किताबों को तिलांजलि दे दी थी और अपनी उदास शामें लाहौर की सड़कों पर आवारा घूमता हुआ बिताता था, कभी-कभी मन में आत्म-हत्या तक का विचार आता था। ऐसे मूड में दो-तीन वर्ष बीत गये थे और मैं स्थिर नहीं हो पा रहा था, कि अचानक एक शाम ज़िला कचहरी लाहौर के पास एक मकान की दीवार पर मैंने 'प्रभात फ़िल्म कम्पनी' की नयी फ़िल्म का इश्तिहार देखा, जिस पर मोटे अंग्रेज़ी अक्षरों में लिखा था – 'लाइफ़ इज़ फ़ॉर लिविंग' और उर्दू में उसका शीर्षक था – 'आदमी !'

यदि इस फ़िल्म के विज्ञापन का शीर्षक केवल उर्दू में होता, याने सिर्फ़ 'आदमी' तो मैं अपनी उस उदास मनःस्थिति में कभी वह पिक्चर देखने न जाता। लेकिन अंग्रेज़ी शीर्षक ने न केवल मेरा ध्यान खींचा, फ़िल्म देखने की उत्कण्ठा भी जगा दी और फ़िल्में न देखने के बारे में अपना इरादा बदल कर मैं उसे देखने गया।

मैं मान लेता हूँ कि उस फ़िल्म ने मेरी उस उदास, निराश और आत्मघाती मनःस्थिति को बदलने में बड़ा काम किया और 'ज़िन्दगी जीने के लिए है' – यह सूत्र बद्ध-मूल हो कर मेरे मन में बैठ गया। ज़िन्दगी में पहली बार मैंने जीने के बारे कुछ बुनियादी प्रश्नों पर विचार किया और ज़िन्दगी का आदर्श बनाया, जिससे मैं फिर नहीं भटका।

आज चालीस वर्षों के बाद 'आदमी' की कहानी के सन्दर्भ में मेरी स्मृति धुंधला गयी है। जहाँ तक मुझे याद पड़ता है, उसमें एक सिपाही (साहू मोदक) किसी केस की तफ़्तीश के सिलसिले में वेश्याओं की गली में जाता है और वहाँ एक वेश्या (शान्ता हुबलीकर) से प्रेम करने लगता है, जो उसे कई भाषाओं में गाना गा कर रिझाती है। दोनों का प्रेम प्रगाढ़ हो जाता है, लेकिन सिपाही उसे अपनी बना नहीं सकता। वास्तव में उसे हृदय से प्यार करते हुए, वेश्या अपने आपको उसके योग्य नहीं समझती, उससे बचती है और इस प्रयास में एक लोलुप की हत्या कर देती है और अन्ततः उसे काले पानी की सज़ा होती है। अपने प्रेमी से बिछुड़ते हुए वह उससे अनुरोध करती है कि वह उसके प्यार में ज़िन्दगी जीना न छोड़े; ज़िन्दगी जीने के लिए है, मरने के लिए नहीं। और

फ़िल्म के अन्त में हम साहू मोदक को उपादेय ढंग से ज़िन्दगी जीते हुए और अपने पेशे में उन्नति करते हुए देखते हैं।

उस फ़िल्म में नायिका द्वारा भिन्न-भिन्न भाषाओं में गीत गाने के दृश्य अथवा एक बाग़ में उनके प्यार के दृश्य आज भी मेरे मन पर अंकित हैं। जिस चीज़ की मुझे आज भी याद है, वह उस फ़िल्म की तीव्र गति थी। बाग़ में नायक-नायिका के प्रेम के दृश्यों में विशेषकर! फ़िल्मी दुनिया पर व्यंग्य उस फ़िल्म की विशेषता थी।

शान्ताराम अपनी फ़िल्मों के लिए कभी प्रसिद्ध सितारों के चक्कर में नहीं पड़े। उन्होंने हमेशा अपनी फ़िल्मों के लिए सोद्देश्यता लिये हुए आधार-भूत विचार चुने, नयी कहानियाँ लिखवायीं, उन्हें रूपायित करने के लिए नये अभिनेता ढूंढ़े और अपने कुशल निर्देशन से उन्हें चमका दिया। उनकी फ़िल्मों का कोई फ़ार्मूला नहीं रहा। 'आदमी' में मैंने जो दृश्य देखे थे, फिर उनकी किसी फ़िल्म में नहीं देखे। इसलिए भारत के फ़िल्म निर्देशकों में शान्ताराम 'अकेले' हैं – कोई दूसरा उन जैसा नहीं, न वे किसी दूसरे जैसे हैं। उनकी हर फ़िल्म पर उनके निर्देशन की गहरी छाप है।

'बॉम्बे टॉकीज़' और फ़ार्मूला फ़िल्में

उस वक्त, जब 'प्रभात फ़िल्म कम्पनी' से शान्ताराम सोद्देश्य फ़िल्में बना रहे थे और 'न्यू थियेटर्स' में 'सुबह का सितारा' जैसी चालू फ़िल्मों के बदले देवकी बोस और बरुआ एक-के-बाद-एक कलापूर्ण फ़िल्में बनाने लगे थे, 'बाम्बे टॉकीज़' से हिमांशु राय सामाजिक फ़िल्में पेश कर रहे थे। तभी द्वितीय विश्व युद्ध शुरू हो गया और दर्शकों में भारी बदलाव आ गया।

मैंने 'बॉम्बे टाकीज़' के संस्थापक श्री हिमांशु राय को नहीं देखा, न वे फ़िल्में देखीं, जो उस ज़माने में उन्होंने 'बॉम्बे टाकीज़' से प्रस्तुत कीं – सिवा 'अछूत कन्या' के, जिसमें अशोक कुमार और देविका रानी थे और जिसका दो-गाना –

मैं बन की चिड़िया बन के
बन बन बोलूं रे
मैं बन का पंछी बन के
संग-संग डोलूं रे

हिट हो गया था। लेकिन मैंने हिमांशु राय को फ़िल्म के पर्दे पर देखा ज़रूर था। मुझे याद है, मैं कॉलेज में पढ़ता था, ख़ामोश फ़िल्मों का ज़माना था और स्टेशन रोड में नये खुले सिनेमा हॉल के मालिक ला० सोहनलाल को मैंने पटा लिया था

और मैं रोज शाम को वहाँ जाता था। तभी फ़िल्मी पत्रिकाओं में मैंने पढ़ा, हिमांशु राय अंग्रेजी में महात्मा बुद्ध के जीवन पर एक फ़िल्म 'लाइट ऑफ़ एशिया' बना रहे हैं और उसमें यशोधरा की भूमिका के लिए नायिका की खोज कर रहे हैं।

जब वह फ़िल्म बनी और जालन्धर में लगी तो मैं और हसीब उसे देखने गये। हालांकि वह फ़िल्म चन्द दिन से ज़्यादा नहीं चली थी, पर मुझे वह साफ़ और स्लिक लगी थी। आज मुझे उसका कुछ भी याद नहीं, सिवा एक दृश्य और महात्मा बुद्ध के रूप में हिमांशु राय के सिलहूत के, जो फ़िल्म के पर्दे पर दिखाया गया था और यशोधरा की भूमिका में काम करने वाली लम्बी, सुन्दर, सौम्य सीता देवी के। अजीब बात है कि उस फ़िल्म का केवल एक दृश्य याद रह गया है – जब राजा शुद्धोधन के आदेश से कपिलवस्तु की तमाम सुन्दर कुंवारी युवतियाँ महल के सामने दोनों ओर आ खड़ी होती हैं – यह मनाती हुई कि राजकुमार सिद्धार्थ उन्हीं को चुने – और सजे-बजे हाथी पर सवार राजकुमार सिद्धार्थ मन्त्री के साथ उनको देखता हुआ उनके बीच से गुज़रता है। हठात उसकी आँखें बायीं पंक्ति में खड़ी यशोधरा से मिलती हैं। हाथी रुक जाता है। यशोधरा चुन ली जाती है। बस सारी फ़िल्म में यह दृश्य मुझे याद रह गया है। विशेषकर महलों से निकलता हाथी। उसके शरीर पर रेशमी झोल और माथे पर चमकता मुकुट।

'लाइट ऑफ़ एशिया' बनाने के कितने वर्ष बाद हिमांशु राय, ने 'बॉम्बे टाकीज' की स्थापना की, मैं नहीं जानता। १९४५ में मेरे बम्बई जाने से पहले भगवती बाबू और नरेन्द्र शर्मा वहाँ मुलाज़िम थे। भगवती बाबू ने कौन-सी कहानियाँ लिखीं, नरेन्द्र ने कौन-से गीत – मुझे कुछ पता नहीं। इतना पढ़ा या सुना था कि 'अछूत कन्या' के बाद पै-दर-पै 'बॉम्बे टॉकीज़' की कई फ़िल्में फ़्लॉप हो गयीं, मँहगे जर्मन डायरेक्टर को जवाब दे दिया गया था, आर्थिक स्थिति गड़बड़ा गयी थी कि तभी एक व्यक्ति ने, जो साउण्ड रिकॉर्डिस्ट था, शरत की किसी कहानी के आधार पर एक फ़िल्मी कहानी लिखी और हिमांशु राय तथा उनकी पत्नी देविका रानी को सुनायी। उन्होंने पसन्द की और डायरेक्ट करने की इजाज़त दे दी। वह बॉक्स ऑफ़िस पर हिट हो गयी और फ़ार्मूला फ़िल्मों का दौर चल निकला।

उस फ़िल्म का नाम 'बन्धन' था और उस साउण्ड रिकॉर्डिस्ट का नाम था – शशधर मुकर्जी। शशधर मुकर्जी ने 'बन्धन' के बाद 'बॉम्बे टाकीज' के लिए कई हिट फ़िल्में बनायीं। उनमें न मुझे 'बन्धन' की याद है, न 'कंगन' की और न 'किस्मत' की, लेकिन जाने कैसे मुझे 'झूला' की धुंधली-सी याद रह गयी है।

पलट, तेरा ध्यान किधर है भई

लेकिन इससे पहले कि मैं शशधर मुकर्जी (जिनके अधीन मैंने दो वर्ष 'फ़िल्मिस्तान' में काम किया) या 'झूला' की बात करूँ, मैं दो ऐसी फ़िल्मों की बात करूँगा, जो मुकर्जी की फ़िल्मों के फ़ार्मूला की सफलता को देख कर बनीं और हिट हुईं। जहाँ तक मुझे याद पड़ता है, डायरेक्टर कारदार उनके निर्माता थे। पहली का नाम था 'शारदा' और दूसरी का – 'नमस्ते'।

यह शायद १९४१-४२ की बात है। मैं ऑल इण्डिया रेडियो (दिल्ली) में काम करता था। कौशल्या से मेरी शादी हो चुकी थी, जब हमारे घर (भार्गव लेन, तीस हज़ारी) के निकट ही 'नॉवल्टी' सिनेमा में 'शारदा' लगी। वह हफ़्तों से चल रही थी। भीड़ कम नहीं हो रही थी। उसकी बड़ी चर्चा थी। और उसका एक गाना –

दुनिया में सब जोड़े जोड़े
आशिक फिरें निगोड़े
ओ रामा

हरेक की ज़बान पर था। एक दिन मैं शाम को दफ़्तर से घर आया तो मैंने देखा कि रसोई के बरामदे में एक ख़ाली टीन को ढोलक की तरह बजाता हुआ मेरा साला यही गाना गा रहा है। तभी मैंने तय किया कि मैं यह फ़िल्म ज़रूर देखूंगा और आते इतवार को मैं पत्नी को ले कर मैटिनी शो देखने गया।

मैं प्रायः फ़िल्में नहीं देखता। कई बार बहुत अच्छी और चर्चित फ़िल्म आती है, दो-दो तीन-तीन कर परिवार के सभी लोग फ़िल्म देख आते हैं, लेकिन मैं नहीं देख पाता। हाथ का काम ख़त्म करने का मोह फ़िल्म देखने की इच्छा के रास्ते की दीवार बन जाता है और मैं काम करता हुआ घर में बैठा रहता हूँ। लेकिन कभी जब महीनों बाद किसी दिन फ़िल्म देखने का मूड होता है और प्रोग्राम बनता है तो फिर कभी बिना फ़िल्म देखे वापस नहीं लौटता। उस दोपहर 'नॉवल्टी' में कितनी भीड़ थी, किस तरह पत्नी के लाख कहने पर कि किसी दिन फिर देख लेंगे, मैं नहीं लौटा कैसे चौदह आने का टिकेट मैंने ढाई रुपये में खरीदा और कैसे उस दर्जे में, जहाँ एक भी औरत नहीं थी शहर के गामे-माझे इकट्ठे थे, मैं अपनी नवपरिणीता को ले गया और कैसे उन प्रकट में गुण्डे दीखने वाले, लेकिन वास्तव में सहृदय लोगों का विश्वास जीत, मैं दंगे-फ़साद के बीच भी, इत्मीनान से पत्नी को पिक्चर दिखा लाया, उसका वर्णन सविस्तार कौशल्या ने 'शिकायतें और शिकायतें' के किसी संस्मरण में किया है।

आज इतने बरस बीत जाने पर 'शारदा' और 'नमस्ते' के बारे जो बात याद रह गयी है, वह यह है कि न केवल दोनों का एक ही फ़ार्मूला था, वरन

कहानी भी लगभग एक जैसी थी। दोनों में निहायत अनपढ़ और लगभग आवारा क़िस्म के नौजवानों पर बहुत ही पढ़ी-लिखी अमीर युवतियाँ मरने लगती हैं और अन्त में उनकी शादी हो जाती है। दोनों में वास्ती नायक था। 'शारदा' में महताब नायिका थी और 'नमस्ते' में (जहाँ तक मुझे याद पड़ता है) प्रतिमा देवी!

'शारदा' में वास्ती मुर्ग़बाज़ है, अनपढ़ है और उसका तकिया कलाम है— पलट, तेरा ध्यान किधर है भई।

फ़िल्म के शुरू होने पर मुर्ग़ा को बग़ल में दबाये वह गाना गा रहा है— 'दुनिया में सब जोड़े-जोड़े।'— और सारी फ़िल्म में वह कई बार कभी अपने मुर्ग़ा को, कभी अपने मित्र को, और कभी अपने आपको कड़कड़ाती आवाज़ में ललकारता है— 'पलट'...और फिर ज़रा धीरे से— 'तेरा ध्यान किधर है भई'!....और न केवल उसका गाना, बल्कि उसका तकिया-कलाम भी लोकप्रिय हो गया था और कॉलेजों के छात्र एक-दूसरे को इसी तरह ललकारने लगे थे।

फ़िल्म का सुखद अन्त इस दृश्य पर होता है कि उसकी सुशिक्षित पत्नी उसे पट्टी पर वर्णमाला लिखना सिखा रही है।

०

'नमस्ते' की पूरी कहानी तो मैं भूल गया हूँ। उसमें भी नायिका किसी बड़े आदमी की ख़ुदसर बेटी है और वास्ती शायद एक टुटियल बीमा एजेन्ट, जो बहुत पुराने मॉडल की खटारा गाड़ी चलाता है। फ़िल्म के शुरू में नायिका अकेली अपनी गाड़ी पर कहीं जा रही होती है कि हठात उसकी गाड़ी ख़राब हो जाती है। दूर-निकट कोई मकान नहीं। वह बहुत परेशान हो जाती है। तभी पीछे से अपनी बेछत की पुरानी खटारा गाड़ी में मज़े से गाना गाता हुआ वास्ती आता है। वह उसकी गाड़ी को ठीक करने की कोशिश करता है, लेकिन कर नहीं पाता तो उसे रस्से से अपनी खटारा गाड़ी के पीछे बाँध लेता है। नायिका उसके साथ अगली सीट पर आ बैठती है और वास्ती पूर्ववत गाना गाते हुए चल पड़ता है। अब के गाने में नायिका भी अपना स्वर मिला देती है।

दूसरा दृश्य, जो इस पिक्चर का मुझे याद रह गया है, वह नायिका द्वारा कार का चुनाव है। वह गाड़ी चूँकि कुछ परेशान करने लगी है, इसलिए वह अपने पिता से नयी कार ख़रीद देने को कहती है। पिता तैयार हो जाते हैं। नायिका ने एक बहुत बड़ा कुत्ता पाल रखा है। असली नसल का। वह उसे बेहद प्यार करती है। उसका फ़ैसला है कि जिस कार को उसका कुत्ता पसन्द करेगा, वही ख़रीदी जायगी। चुनाव के दिन वह अपने पिता और कुत्ते के साथ पोर्च में बैठती है। एक के बाद एक बढ़िया मेक की गाड़ी उनके सामने से हो कर गुज़रती है, पर श्वान महाशय सनद ही नहीं देते। बस मुटर-मुटर तके जाते हैं। तभी वास्ती, जो अपनी उसी खटारा गाड़ी में बीमे के सिलसिले में उसके पिता से

मिलने आ रहा है, सबके पीछे खटर-खटर चला आता है और कुत्ता बड़े ज़ोरों से भूँक उठता है। उसकी पसन्द पर हॉल तालियों से गूँज उठता है, क्योंकि ज्योंही पर्दे पर वास्ती अपनी खटारा गाड़ी में बैठा दिखायी देता है, दर्शक समझ जाते हैं कि कुत्ता उसको देख कर भूँकेगा और उसकी वही खटारा गाड़ी चुनी जायेगी। दर्शकों को कुत्ते का वह चुनाव पसन्द आता है और वे करतल-ध्वनि कर उठते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रबुद्ध वर्ग को ऐसी हास्यास्पद फ़िल्में देखने पर बेहद कोफ़्त होती थी। आज भी मेरी उम्र के लोग 'न्यू थियेटर्स' के ज़माने को याद यों करते हैं, जैसे धर्म परायण लोग सतयुग को। बहुत अच्छी और कलापूर्ण फ़िल्में क्यों बॉक्स ऑफ़िस पर हठात मार खाने लगीं, जब मैं इस स्थिति के कारणों पर विचार करता हूँ तो मेरे सामने उस ज़माने के सिनेमा हॉलों के दर्शक आ जाते हैं। १६३६ में द्वितीय विश्व युद्ध शुरू हो गया था। नीचे दर्जे के लोगों के पास भी बहुत पैसा आ गया था और सिनेमा के दर्शकों में सैनिकों और निचले दर्जे के अनपढ़ मज़दूरों और कारीगरों का बाहुल्य हो गया था। मुझे याद है, मैं दिल्ली में फ़व्वारे के निकट एक सिनेमा में 'तक़दीर' देखने गया था। भीड़ की वजह से मैंने बाल्कनी का टिकट ख़रीदा था। मैं यह देख कर हैरान रह गया था कि सारी बाल्कनी गामों-माझों से भरी थी। सफ़ेदपोश तबका 'ओडियन' और 'प्लाज़ा' में जाने लगा था। शशधर मुकर्जी ने जो फ़िल्में बनायीं, और उनकी देखा-देखी दूसरों ने जो फ़िल्में प्रस्तुत कीं और जो हिट हुईं (जैसे 'शारदा' और 'नमस्ते') उनमें एक बात समान थी— उन सबका नायक कोई अनपढ़, या बेकार, या आवारा युवक होता। नायिका हमेशा पढ़ी-लिखी अथवा बड़े अमीर घर की लड़की होती। वह उस ग़रीब, बेकार या आवारा से प्रेम करने लगती और अन्ततः उनकी शादी हो जाती। जहाँ तक मुझे याद पड़ता है, 'झूला' से ऐसी फ़ार्मूला फ़िल्मों का सिलसिला शुरू हुआ था।

झूला

'आदमी' और 'पूरन भगत' की तरह मैं 'झूला' को भी ट्रेण्ड-सेटर मानता हूँ और इसीलिए 'बन्धन' और 'कंगन' के बजाय मैंने उसका नाम लिया है। इस फ़िल्म के बाद कम-से-कम दो दशकों तक दोबारा 'न्यू थिएटर्स' वाली कला-पूर्ण फ़िल्मों का ज़माना नहीं आया।

'झूला' में अशोक कुमार नायक था, लीला चिटनस नायिका। मुमताज का नृत्य था, वी० एच० देसाई का हास्य और प्रदीप के गीत। मुकर्जी की कई हिट फ़िल्मों में यही सब रहता था। कहानी तो अशोक, देसाई, प्रदीप और मुमताज

को फ़िट करने के लिए लिखी जाती थी। जहाँ तक गानों का सम्बन्ध है, चूंकि स्वातन्त्र्यान्दोलन का ज़माना था, इसलिए हर फ़िल्म में एक-न-एक गाना देश-प्रेम का रहता था, एक भिखारियों या ग़रीबों का, एक मिलन का और एक विरह का। और उस ज़माने में प्रदीप के कई गीत हिट हुए थे।

मुझे 'भूला' में अशोक, देसाई, मुमताज़ और लीला चिटनस की सूरतों के सिवा कुछ भी याद नहीं। इतना स्मरण है, कि 'भूला' ही में नहीं, बाद की फ़िल्मों में भी मुमताज़ का नाच मुझे बहुत अच्छा लगता था। उसके हँसमुख गोल चेहरे पर दायें गाल में छोटा-सा गढ़ा बन जाता था, जो भला लगता था — उसकी पैंतिस-चालिस की उम्र के बावजूद।

जहाँ तक बी० एच० देसाई का ताल्लुक है, पर्दे पर आते ही लोग हँसने लग जाते थे। 'भूला' का या 'किस्मत' का (मैं ठीक से नहीं कह सकता) एक दृश्य मुझे याद है। देसाई शायद लड़की का पिता बनता है। बाहर से घर आता है। कोट उतार कर खूंटी पर टाँगता है। फिर पतलून उतारना शुरू करता है। लोग देखते हैं कि पतलून के नीचे बँधी-बँधाई धोती निकल आती है और दर्शक हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते हैं।

उस सीरीज़ की किसी फ़िल्म में, देसाई चुटिया-धारी पण्डित की भूमिका में उतरता है। मुझे उसके एक भाषण की याद आती है। भाषण देते-देते वह सहसा भूल जाता है और तब उसका चेहरा कैसे-कैसे कोण बनाता है और भाषण याद करने के प्रयास में वह आँखें कैसे चढ़ाता है — और लोग कैसे हँसी के मारे लोट-पोट होते हैं — वह दृश्य वैसा-का-वैसा मेरी याद के पर्दे पर अंकित है।

यों तो देसाई बी० ए०, एल-एल० बी० थे। एडवोकेट थे। लेकिन याददाश्त उनकी बेहद चौपट थी। जैसा कि मैंने अपने अनुभव से जाना, वे एक पंक्ति का सम्वाद भी याद नहीं कर सकते थे। बस वे अपने उस अजीब-से कोण बनाने वाले चेहरे की कमाई खाते थे।

'बॉम्बे टॉकीज़' में मुकर्जी ने जो फ़िल्में बनायी, उनमें यही अभिनेता प्रमुख थे। मेरे बम्बई जाने के कुछ ही पहले शशधर मुकर्जी राय बहादुर चूनीलाल के साथ अपना गुट ले कर 'बॉम्बे टॉकीज़' से अलग हो गये थे। 'बॉम्बे टॉकीज़' मलाड में था। उन्होंने एक स्टेशन इधर, गोरे गाँव में 'फ़िल्मिस्तान' की स्थापना की और 'परी चेहरा नसीम बानो' और अशोक के साथ पहली फ़िल्म 'चल-चल रे नौजवान' बनायी। मैं जब 'फ़िल्मिस्तान' में मुलाज़िम हुआ, 'चल-चल रे नौजवान' मुकम्मल हो चुकी थी और 'शिकारी' की शूटिंग चल रही थी और डायरेक्टर नीतिन बोस सेठ चूनीलाल की पूंजी और 'फ़िल्मिस्तान' के सहयोग से 'मजदूर' बनाने जा रहे थे, जिसके सम्वाद लिखने के लिए मण्टो की सिफ़ारिश पर मुझे बुलाया गया था।

परी चेहरा नसीम बानो

मैंने परी चेहरा नसीम बानो की सिर्फ़ दो फ़िल्में देखी हैं — 'चल-चल रे नौजवान' और 'पुकार'।

'पुकार' बहुत पुरानी फ़िल्म है। सोहराब मोदी ने प्रस्तुत की थी और हिट हुई थी। वह फ़िल्म मुसलमानों को उनके अतीत और वर्तमान की हक़ीक़तों से दूर रखने के लिए, अनेक दूसरी फ़िल्मों की तरह (जो पुराने सामन्तों या सम्राटों की काल्पनिक अच्छाइयाँ दिखाया करती हैं) बनायी गयी थी। चूंकि सोहराब मोदी पारसी थियेटर के सफल अभिनेता थे और 'पुकार' में भी एक शानदार रोल कर रहे थे (यद्यपि कौन-सा मुझे यकसर भूल गया है) इसलिए इतना याद है कि सम्वाद बड़े ज़ोरदार थे और उनकी अदायगी का ढंग एकदम नाटकीय था।

यों जहाँगीर निहायत ऐश-परस्त सम्राट था। अपनी प्रेयसी नूरजहाँ को पाने के लिए उसने एक योग्य सेना-नायक शेर अफ़ग़न को, जो नूरजहाँ का शौहर था, मरवा दिया था। एक बहुत अच्छी मनोवैज्ञानिक और यथार्थ फ़िल्म तो उस विषय-वस्तु पर बन सकती थी, लेकिन ज़िन्दगी की यथार्थताओं से हमारे फ़िल्म-निर्माताओं को कुछ लेना-देना नहीं रहता। फ़िल्म, जो जनता को शिक्षित करने का एक बहुत सशक्त माध्यम है, हमारे यहाँ यथास्थिति को बरकरार रखने, ग़रीबों, बेकारों और आवारों को असम्भव सपने दिखाने और यों जनता के शेर को सुलाए रखने के लिए अफ़ीम का काम देती है। सो 'पुकार' — 'अदल-ए-जहाँगीरी' — जहाँगीर की (कल्पित) न्याय-प्रियता दिखाने के लिए बनायी गयी थी।

उस फ़िल्म में चन्द्रमोहन जहाँगीर बने थे, नसीम नूरजहाँ। अजीब बात है कि मुझे उस फ़िल्म का कोई प्रमुख दृश्य याद नहीं। एक निहायत गौण दृश्य याद रह गया है। सम्राट जहाँगीर सम्राज्ञी नूरजहाँ के साथ बैठे होंगे, जब फ़रियादी धोबन ने घण्टे की ज़ंजीर हिलायी होगी। कोई फ़रियादी पुकार रहा है, यह जान कर जहाँगीर उठे होंगे और नूरजहाँ को साथ ले कर उसकी पुकार सुनने को चल दिये होंगे।....मुझे न फ़रियादी के ज़ंजीर हिलाने की याद है, न घण्टे के बजने की, न सम्राट के उठने की, न बाद में दरबार के दृश्य की....मेरे दिमाग़ में महज़ दरबार की ओर आते हुए चन्द्रमोहन (जहाँगीर) और नसीम बानो (नूरजहाँ) की अत्यन्त स्पष्ट स्मृति रह गयी है। बस इतना याद है कि एक गलियारा है — दरबार के दरवाज़े से पहले। उसमें दोनों ओर भाले लिये पहरेदार खड़े हैं। तभी चोबदार की बुलन्द आवाज़ आती है और दूसरे क्षण वह असा उठाये — 'बा-मुलाहज़ा होशियार' की सदा लगाता और सम्राट तथा सम्राज्ञी के आने की सूचना देता हुआ गलियारे में दाखिल होता है। एकदम चौकीदार तन कर खड़े हो जाते हैं और नेज़े तान लेते हैं और तब लौंग-शॉट में चन्द्रमोहन और नसीम

बानो, जहाँगीर और नूरजहाँ के लिबास में बग़ल की ओर से गलियारे में, दाखिल होते हैं।

केवल यही दृश्य मुझे याद रह गया है। चन्द्रमोहन की नशीली बड़ी-बड़ी आँखें और नसीम के चेहरे की भावहीनता मेरे दिमाग़ के पर्दे पर आज भी नक्श है।

०

'चल-चल रे नौजवान' तो मेरे बम्बई जाने के कुछ ही दिन पहले पूरी हुई थी। मैं मण्टो के बुलाने पर वहाँ गया था और शुरू के कुछ दिन उसके पास एडल्फ़ी चेम्बर्ज़, क्लेयर रोड में ठहरा था। मेरा खयाल है, मैंने मण्टो और सफ़िया भाभी के साथ ही फ़िल्म देखी थी। उसकी पट-कथा भी कहीं मेरी फ़ाइलों में सुरक्षित पड़ी है। लेकिन कहानी तो दूर, उसकी थीम तक मुझे याद नहीं। उस फ़िल्म का भी बस डेढ़ दृश्य ही मुझे याद रह गया है।

पूरा दृश्य, जो मुझे स्मरण है, वह सुबह के वक्त किसी वॉलेण्टियर कोर की पी० टी० का दृश्य है। देश की सेवा के हित कोई समाज है, उसकी वॉलेण्टियर कोर है। उसमें अशोक स्वयं-सेवकों तथा सेविकाओं को पी० टी० करा रहा है। कमीज़-शलवार पर दुपट्टे का फेंटा कसे नसीम उसके ऐन सामने खड़ी पी० टी० कर रही है। शायद वह ठीक नहीं कर रही, इसलिए अशोक उसके पास आ कर उसे सिखाने लगा है। जो दृश्य मेरे दिमाग़ में अंकित है, वह यह है कि जब नसीम अन्दर साँस खींचते हुए सिर के ऊपर हाथ ले जा कर फिर उसे धीरे-धीरे छोड़ते हुए, आगे को झुक कर पैरों को छू पुनः साँस लेते हुए खड़ी हो कर दोनों हाथ सिर के ऊपर तानती है और इस प्रक्रिया में सीने में साँस भरती है तो उसका उभरा वक्ष अशोक के तने सीने से बिल्कुल करीब आ जाता है। जब दो-तीन बार ऐसा होता है। (डायरेक्टर ने दोनों वक्षों के क्लोज़-अप दिये हैं) तो अशोक अचकचा उठता है और पी० टी० सेशन खत्म हो जाता है।....और शायद उसी क्षण से नायक-नायिका में प्रेम-प्रकरण की शुरुआत होती है।

रहा आधा दृश्य तो उसमें रफ़ीक ग़ज़नवी (जो 'चल-चल रे नौजवान' का संगीत निर्देशक था) दर्शकों की ओर को पीठ किये सितार या शायद प्यानो बजा रहा है। (बाहर पूरे ज़ोरों से तूफ़ान चल रहा है और अन्दर संगीत तूफ़ान की गति से जारी है) जब तक संगीत अन्तिम बिन्दु तक नहीं पहुँच जाता, ग़ज़नवी की पीठ दर्शकों की ओर ही रहती है। हाँ, इतना मुझे याद है कि रफ़ीक ने जो भी संगीत दिया था, वह बहुत अच्छा था और उसने दर्शकों को बाँध लिया था। (बाद में मेरे पूछने पर मण्टो ने बताया था कि रफ़ीक ग़ज़नवी संगीत के उतार-चढ़ाव के साथ बेहद भद्दी तरह मुँह बिगाड़ता था। चूंकि उसका संगीत बहुत अच्छा था, इसलिए फ़िल्म के पर्दे पर उसे प्रस्तुत करने के लिए यह ढंग अपनाया गया था।)

०

नसीम को यथार्थ जीवन में और फ़िल्म के पर्दे पर देखते हुए मुझे बराबर खामोश फ़िल्मों के ज़माने की नायिका सविता देवी की याद आयी है। 'परी चेहरा नसीम बानो' और 'फ़रिश्ता सूरत सविता देवी' में दो गुण सामान थे। वही जमी हुई खूबसूरती और वही ठस भावना-हीनता। चांचल्य और भावाभिव्यक्ति में सायरा बानो अपनी माँ से कितनी भिन्न है, इसे दोनों की फ़िल्में साथ-साथ देखने पर ही जाना जा सकता है।

जहाँ तक अभिनय के सौन्दर्य का सम्बन्ध है, गीता बाली जैसी अभिनय-कुशल अभिनेत्री मैंने पुरानी अभिनेत्रियों में कम ही देखी ('राग-रंग' में उसने बहुत ही सुन्दर अभिनय किया। वह उन चन्द फ़िल्मों में से एक है, जिन्हें मैंने दोबारा देखा।) नर्गिस ने 'अनहोनी' में अद्भुत काम किया था। आज की अभिनेत्रियों में शबाना आज़मी और स्मिता पाटिल ने अपने अभिनय-कौशल से मुझे प्रभावित किया है। लेकिन यह भी सच है कि साधारण दर्शक सिनेमा के पर्दे पर अभिनय नहीं, शरीर का सौन्दर्य देखने जाते हैं और उस दृष्टि से 'परी चेहरा नसीम बानो' न जाने फ़िल्मों के कितने रसिया युवकों की नींदें हराम करती होगी।

**

एहसान और मुकर्जी

तीस साल से ऊपर अर्सा बीत गया है, लेकिन 'फ़िल्मस्तान' के दिनों की सबसे पहली स्मृति एक पार्टी की है, जो नसीम बानो के बँगले में हुई थी। शायद नसीम का जन्म-दिन था। जिस दिन मैं बम्बई पहुँचा, ग़ालिबन उसी दिन शाम की बात है, मैं नहा-धो, खाना खा कर लेट गया था कि मण्टो ने कहा, 'शाम को मलाड में नसीम के घर पार्टी है, चलेंगे।' मैंने हल्का-सा एतराज़ किया कि मेरा परिचय नहीं, न मुझे कहा गया है, मेरा जाना कहाँ तक उचित होगा? लेकिन मण्टो ने दायें हाथ से हवा को चीरते हुए मेरी तमाम आपत्तियों को अलग हटा दिया और कहा, 'यहाँ पड़े बेकार क्या करोगे? चलो, वहाँ बहुत-से लोगों से जान-पहचान हो जायगी।' और उसने शशधर मुकर्जी की तारीफ़ में ज़मीन-आसमान के कुलाबे मिलाते हुए बताया कि उसके साथ मुकर्जी का दोस्ती का नाता है, 'तुम मेरे मेहमान हो,' उसने कहा, 'तुम्हें अलग से दावत की क्या ज़रूरत है।'

बहरहाल, एकाध घण्टा आराम करके मैं तैयार हो गया। विक्टोरिया करके हम सैण्डहर्स्ट रोड आये, फिर लोकल पकड़ कर मलाड — नसीमबानो के बँगले पर।

०

यद्यपि 'फ़िल्मिस्तान' के मैनेजिंग डायरेक्टर रायबहादुर चूनीलाल थे, लेकिन कम्पनी के यथार्थ बॉस थे शशधर मुकर्जी। चूंकि उनसे अभी मेरी बाकायदा

मुलाकात न हुई थी, न नसीम और उसके शौहर एहसान से ही मेरा परिचय था और न पार्टी में आने वाले अधिकांश लोगों से मैं वाकिफ़ था, इसलिए वहाँ मेरी स्थिति संकोच-भरे मूक दर्शक ऐसी रही थी। अशोक, वी० एच० देसाई, मुमताज़, के० एन० सिंह, आदि कुछ लोगों को मैंने फ़िल्म के पर्दे पर देख रखा था, दो-चार के नाम मुझे मण्टो ने बताये, दो-एक के नाम मैंने पूछे और पार्टी में शामिल होने वालों और फ़िल्मी दुनिया से सम्बन्धित लोगों का मुझे काफ़ी आइडिया हो गया, जिसने बाद के दिनों में अपना व्यवहार तय करने में मेरी बड़ी मदद की।

यों तो उस पहली फ़िल्म पार्टी में मैंने जो कुछ देखा, वैसा ही बाद की पार्टियों में भी देखा और उस पहली शाम ही मुझे लगा कि वह माहौल मुझे रास नहीं आयेगा, लेकिन चूंकि मैं तय करके आया था कि मैं फ़िल्म की नौकरी स्वीकार कर लूंगा, इसलिए उस पार्टी ही में मैंने तय कर लिया कि भविष्य में मुझे कैसे, क्या करना होगा।

जब-जब मैं उस पार्टी की याद करता हूँ, दो चेहरे शेष सब चेहरों को हटा कर मेरे सामने आ जाते हैं। पहला 'फ़िल्मिस्तान' के कण्ट्रोलर ऑफ़ प्रोडक्शन्ज़ — सिलवर जुबली और गोल्डन जुबली फ़िल्मों के प्रोड्यूसर — शशधर मुकर्जी का है और दूसरा 'ताजमहल पिक्चर्ज़' के मालिक और नसीम के शौहर — एहसान साहब का।

एहसान मँझले कद के, पतले-छरहरे, तीखे नाक-नक्शे वाले, ख़ामोश, संजीदा और खुशपोश व्यक्ति थे। अजीब बात है कि दो वर्षों में मैंने कभी उन्हें बात करते नहीं देखा। वे पी० डब्ल्यू० डी० के चीफ़ इंजीनियर खानबहादुर मुहम्मद सुलेमान साहब के साहबज़ादे थे। नसीम उनके पिता की रखैल शमशाद उर्फ़ छमिया की लड़की थीं। एक तरह से वे उनकी बहन होती थीं। जाने उस ख़ामोश व्यक्ति के दिल में कब नसीम का प्यार जगा। जब नसीम बम्बई आ गयी और 'पुकार' हिट हो गयी तो उन्होंने 'ताजमहल पिक्चर्ज़' की स्थापना कर एक फ़िल्म बनायी — 'उजाला' — जिसमें नसीम हीरोइन थी। फ़िल्म तो फ़ेल हो गयी, लेकिन वे अपनी माँ और बहनों के लाख विरोध के बावजूद उससे शादी करने में सफल हो गये। शादी के बाद फ़िल्म कम्पनी बन्द करके वे दिल्ली चले गये। 'पुकार' की सफलता के कारण नसीम की बहुत ख्याति हो गयी थी। उसके इस तरह शादी करके फ़िल्मी दुनिया से अलग हो जाने पर कुछ दिन अख़बारों में शोर मचा, फिर लोग उसे भूल गये।

इस बीच 'बॉम्बे टॉकीज़' के सर्वे-सर्वा हिमांशु राय का देहान्त हो गया। देविका रानी से कम्पनी के जनरल मैनेजर रायबहादुर चूनीलाल और शशधर मुकर्जी की बनी नहीं। फलस्वरूप रायबहादुर चूनीलाल और मुकर्जी अपने गुट के साथ 'बॉम्बे टॉकीज़' से अलग हो गये और उन्होंने गोरेगाँव में नया स्टूडियो

'फ़िल्मिस्तान' के नाम से कायम किया । प्रसिद्ध हीरो अशोक, प्रसिद्ध कामेडियन
देसाई, गीतकार प्रदीप, साउण्ड-रिकार्डिस्ट वाचा, सम्वाद-लेखक शाहिद लतीफ़
और सन्तोषी तथा कहानीकार और निर्देशक ज्ञान मुकर्जी इस गुट में थे । कमी
थी तो एक प्रसिद्ध नायिका की । सो देविका रानी को नीचा दिखाने के लिए
शशधर मुकर्जी ने तय किया कि नसीम को वापस फ़िल्मों में लाया जाय । वे न
सिर्फ़ कई जुबली-फ़िल्मों के निर्माता थे, 'फ़िल्मिस्तान' के कण्ट्रोलर ऑफ़ प्रोडक्शन्ज़
भी थे । उनमें तब कुछ अजीब-सा आत्म-विश्वास था । वे दिल्ली गये और जाने
उन्होंने एहसान साहब को क्या पट्टी पढ़ायी और सब्ज़ बाग़ दिखाये कि वे मान
गये । नसीम 'फ़िल्मिस्तान' की पहली फ़िल्म 'चल-चल रे नौजवान' में काम
करने को तैयार हो गयी । एहसान साहब की एक शर्त यह भी थी कि 'चल-चल
रे नौजवान' के बाद शशधर मुकर्जी 'ताजमहल पिक्चर्ज़' के लिए एक पिक्चर
प्रोड्यूस करेंगे ।

मण्टो ने 'गंजे फ़रिश्ते' में लिखा है – " 'बेगम' की कहानी पर बहस करने के
लिए मुकर्जी रात के दो-दो तीन-तीन बजे तक मलाड में नसीम के यहाँ रहते थे ।"
जहाँ तक मैंने देखा, वे दिल-ही-दिल में नसीम को चाहने लगे थे । लेकिन नसीम
कुछ इतनी सुन्दर, खामोश, गम्भीर और गरिमामयी थी और चूँकि वह एहसान
की पत्नी थी कि अपनी तमामतर सफलताओं के बावजूद वे मन की बात होंटों
पर न ला सकते थे ।

मैंने जब-जब फ़िल्म के पर्दे पर सायरा बानो को देखा है, मुझे उस पार्टी
की और एहसान की याद आयी है । यद्यपि वह उनकी बीवी के जन्मदिन की
पार्टी थी, लेकिन वे उसमें कुछ अजीब-से खोये-खोये घूम रहे थे । मुझे उस पार्टी
में उनकी सूरत कभी नहीं भूली । मज़े की बात यह है कि पार्टी एहसान की थी
और लोग घेरे हुए थे शशधर मुकर्जी को !

ख़ुशामद हज़ार बरकत है

सच्ची बात यह है कि उस पार्टी में, जहाँ अधिकांश लोग 'फ़िल्मिस्तान' से संलग्न
थे, शशधर मुकर्जी सबके आकर्षण के केन्द्र थे । वे अपने चमचों में घिरे हुए, एक
बे-बाँह की कुर्सी पर टाँगे फैलाये पसरे हुए थे और पार्टी में आने वाले लोग
किसी-न-किसी तरह उन्हें प्रसन्न करने में लगे हुए थे ।

छै फ़ुट को पहुँचता हुआ लम्बा कद; गोरा रंग; बहुत चौड़ा माथा; घनी
भवें; तेज़ आँखें; चौड़ा मुँह; धँसे हुए कल्ले; गालों की हड्डियाँ काफ़ी उभरी हुईं;
मोटे, खमदार, संपुटल होंट, जिनके दोनों कोनों में कुछ ऐसा अजाना भाव

था, जो उस चेहरे को एक अजीब-सी क्रूरता प्रदान करता था – क्रूरता और
स्वार्थ-परता – मुकर्जी की यह तस्वीर मेरे मन पर नक्श है । बाद में वह माथा
चौड़ा होता-होता खोपड़ी के गंज से जा मिला और पतले-छरहरे शरीर पर
कद्रे तोंद निकल आयी । इसके अलावा तीस वर्षों के दौरान उस सरापे में कोई
अन्तर नहीं आया ।

उस शाम उन्हें जो लोग प्रसन्न कर रहे थे, उनमें सर्वाधिक सफल एक
खुशपोश युवक था – पुरी ! लम्बा-ऊँचा कद, दोहरा बदन, गोरा रंग, गोल
चेहरा, मोटे होंट, हल्की-सी चपटी नाक, चौड़ा माथा और तन पर बढ़िया सूट –
पुरी की शक्ल आज भी मेरी आँखों में घूमती है । वह 'फ़िल्मिस्तान' के प्रोडक्शन
विभाग में असिस्टेण्ट था और उसे ढाई सौ मासिक मिलते थे....लेकिन यह सब
तो मुझे बाद में मालूम हुआ । उस वक्त तो मैंने उसे मुकर्जी के मुँह-लगे चमचों
में शामिल, अपने बॉस की प्रसन्नता के लिए लोगों की नक़लें सुनाते देखा । बाद
में मण्टो ने बताया कि पुरी उन्हीं फ़िल्मी हस्तियों की नक़लें उतार रहा था,
जिनसे मुकर्जी अप्रसन्न थे । यही नहीं, अपने बॉस की प्रसन्नता के लिए उसने
दो-तीन निहायत अश्लील और ग़लीज़ लतीफ़े भी सुनाये और मुकर्जी बहुत
प्रसन्न हुए । बाद में भी मैंने हमेशा 'फ़िल्मिस्तान' की पार्टियों में पुरी को यह
भूमिका निभाते देखा और यदि बाद में वह दो-दो फ़िल्मों के अदालती दृश्यों में
वकील की भूमिका पा गया तो मुझे हैरत नहीं हुई ।

०

यहीं मेरे दिमाग़ के पर्दे पर ऐसी ही दो-एक अन्य झलकियाँ उभरती हैं । पुरी
तो बहुत छोटी हस्ती था । युवा था । तब तक वह एक भी फ़िल्म में नहीं उतरा
था और चूँकि उसे अभिनय का शौक था, इसलिए उस तरह भँड़ैती करके मुकर्जी
की आँख में उसका चढ़ना मेरी समझ में आता है । लेकिन 'फ़िल्मिस्तान' में एक
हास्य-अभिनेता था – वी० एच० देसाई । 'झूला' के सिलसिले में मैं उसका
उल्लेख कर चुका हूँ । 'बाम्बे टॉकीज़' की कई फ़िल्में यदि हिट हुई थीं तो एक
कारण वी० एच० देसाई भी था । मैंने स्वयं देखा कि पर्दे पर उसके आते ही
लोग हँसने लगते थे । जब मैं 'फ़िल्मिस्तान' में मुलाजिम हुआ तो वह बारह सौ
रुपये माहवार पाता था और मुकर्जी ने 'ताजमहल पिक्चर्ज़' से एक फ़िल्म के लिए
उसे तीस हज़ार का अनुबन्ध भी दिला रखा था । बी० ए०, एल० एल० बी०
था । एडवोकेट भी था । 'फ़िल्मिस्तान' में आने से पहले वह 'बॉम्बे टॉकीज़' में
था और वहाँ हर फ़िल्म में उसका रोल अनिवार्य था । मण्टो ने लिखा है कि
जर्मन डायरेक्टर फ्रेंज़ आस्टन ने एक बार उससे ठीक सम्वाद कहलाने के लिए
निहायत सब्र से ७५ रिटेक तक लिये थे । वह मुकर्जी के साथ 'बॉम्बे टॉकीज़'
छोड़ कर 'फ़िल्मिस्तान' में आ गया था और यहाँ भी उसका राल अनिवार्य था ।

पचास-पचपन की उम्र थी। फ़िल्मों में वह लड़की या लड़के के बाप का रोल करता था। ऐसा महत्वपूर्ण हास्य-अभिनेता भी मुकर्जी को प्रसन्न करने के लिए भँड़ैती कर सकता है, इसकी मुझे कल्पना भी न थी।

लेकिन मुझे 'फ़िल्मिस्तान' में मुलाज़िम हुए ज़्यादा दिन नहीं गुज़रे थे कि एक शाम कवि हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय 'फ़िल्मिस्तान' आये। वास्तव में वे बहुत पहले से फ़िल्मों में उतरने के इच्छुक थे। यह और बात है कि इस इच्छा की पूर्ति के लिए उन्हें वर्षों प्रतीक्षा करनी पड़ी। गुरुदत्त ने 'साहब बीबी और गुलाम' में उन्हें पहला रोल दिया। बहुत छोटा-सा रोल था। घड़ी दादा का। पर जिन्होंने वह फ़िल्म देखी है, वे कभी उस भूमिका को भूल नहीं सकते।

बहरहाल, चट्टोपाध्याय ने वहीं खड़े-खड़े मुकर्जी को बात-बात में डेक्लेमेशन द्वारा अपनी आवाज़ के उतार-चढ़ाव के कुछ नमूने दिखाये और थोड़ा अभिनय भी किया। वी० एच० देसाई भी पास ही खड़े थे। जाने मुकर्जी के दिल में क्या आयी। उन्होंने देसाई की ओर देख कर कहा, 'देसाई डण्ड पेल कर दिखाओ।' और देसाई किसी तरह की झिझक के बिना बिल्कुल एक स्वचालित यन्त्र की तरह डण्ड पेलने लगे। फिर मुकर्जी की इच्छा पर उन्होंने 'झूला' या 'किस्मत' या उन्हीं दिनों की किसी जुबली फ़िल्म का वह अभिनय दिखाया, जहाँ उन्हें भाषण देते वक्त आगे क्या कहना है, यह भूल जाता है...इतने बड़े अभिनेता को डण्ड पेलते देख कर मुझे बड़ी तकलीफ़ हुई थी। लेकिन मुकर्जी प्रसन्न हो गये थे और चट्टोपाध्याय हतप्रभ चले गये थे।

बेमालूम संकेत और कमरा खाली

नसीम के जन्मदिन की पार्टी के दूसरे दिन ही की बात है, मैं पहली बार मण्टो के साथ 'फ़िल्मिस्तान' के स्टूडियो गोरेगाँव गया।

गोरेगाँव मलाड के एक स्टेशन इधर है। स्टेशन से उतर कर लगभग डेढ़-दो फ़र्लांग चलें तो घोड़बन्दर रोड आती है, जहाँ स्टेशन रोड के सामने ही सड़क के पार 'फ़िल्मिस्तान स्टूडियो' का गेट है, जिसके आगे वर्दीपोश पठान पहरा देता था। आज स्टूडियो कैसा है, मैं नहीं जानता। लेकिन उस ज़माने में गेट से एक चौड़ी सड़क सीधी जाती थी, जिस पर गेट से ज़रा आगे दायीं ओर रिसेप्शन-विभाग था। बायीं ओर छोटे-से गोल लॉन के साथ एक छोटी-सी दो-मंज़िली कोठी थी। उसमें पहले बरामदा था, जिसमें दायीं ओर ऊपर को सीढ़ियाँ चढ़ती थीं; बायीं ओर मैनेजिंग डायरेक्टर का ऑफ़िस था; फिर हॉल कमरा था, जिसमें एक ओर टेलिफ़ोन ऑपरेटर बैठती थी; शेष कमरा गलियारा था — उसके दायें-

बायें कमरे थे। फिर पीछे भी बरामदा था। लोग उसमें से हो कर इधर-उधर, आगे-पीछे आते-जाते थे। ऊपर की मंज़िल में सिर्फ़ एक कमरा था। निचले कमरों में कम्पनी के दफ़्तर थे। ऊपर के कमरे में सिर्फ़ मुकर्जी साहब का दफ़्तर था।

इस कोठी के पिछले बरामदे से नीचे उतरें तो आगे फूलों की क्यारियाँ और रविशें थीं। बायीं ओर को लकड़ी के कबिन-नुमा अस्थायी मेकप-रूम बने थे। बाग़ीचे के पार ऐन सामने पक्का मेकप-रूम था। गेट से आने वाली सड़क इससे ज़रा पहले दायीं ओर को थोड़ी-सी मुड़ती हुई इसकी बग़ल से निकलती थी। वहीं स्टूडियो की कैण्टीन थी। आगे सड़क एक चौड़े अहाते में जा कर ख़त्म हो जाती थी, जिसके परे दायें-बायें दो बड़े स्टूडियो थे। कैण्टीन के दायीं ओर कद्रे दूर म्यूज़िक रूम था और दायें स्टूडियो के पिछवाड़े बढ़ईघर और इनडोर खेलों का मण्डप, जहाँ टेबल टेनिस की मेज़ रखी रहती थी और दिन भर कोई-न-कोई जोड़ी खेलती रहती थी।

मैं मण्टो के साथ गेट से दाखिल हो कर बायीं ओर, कोठी के ऊपर की मंज़िल के कमरे में गया। वहाँ सामने एक मेज़ और चन्द कुर्सियाँ पड़ी थीं। दायीं ओर को एक लम्बी दीवान-नुमा आरामकुर्सी रखी थी, जिससे पीठ लगा, पूरी टाँगें फैला कर आराम किया जा सकता था। बाहर से आने वाले दरवाज़े के दोनों ओर कोनों में दो तिरछी मेज़-कुर्सियाँ लगी थीं। इनमें बायीं की मेज़ पर मण्टो ने अपना ब्रीफ़-केस रखा।

जब हम कमरे में दाखिल हुए थे तो वहाँ अभी कोई नहीं आया था। मण्टो ने सामने की मेज़ के इधर को रखी हुई दो-तीन कुर्सियों में से एक कुर्सी उठा कर अपनी मेज़ के सामने रखी और मुझसे कहा — "बैठो।"

मैं बैठ गया तो मण्टो ने स्वयं अपनी कुर्सी पर बैठते हुए बताया कि सामने कि मेज़ पर मुकर्जी बैठते हैं। थक जाते हैं तो लम्बी कुर्सी पर आराम करते हैं। कोने की दूसरी मेज़ की ओर संकेत करते हुए उसने कहा कि वहाँ सन्तोषी बैठते थे, कुछ ही महीने पहले चले गये हैं और यदि मैं चाहूँ तो मुकर्जी से कह कर वह मेरे लिए फ़िक्स करा देगा।

"देखो हम सब मिल कर यहाँ सम्वाद लिखते हैं।" उसने मुझे समझाया, "मुकर्जी बहुत मुश्किल-पसन्द आदमी है, बहुत मेहनत कराता है।"

मुझे बम्बई में आये दो दिन हो गये थे और मैंने लक्ष्य किया था कि मण्टो मुकर्जी का बहुत प्रशंसक था। उनका नाम आते ही वह उनकी तारीफ़ करने लगता था। उसके संस्मरण-संग्रह 'गंजे फ़रिश्ते' में भी जहाँ-जहाँ मुकर्जी का नाम आया है, मण्टो के शब्दों में न व्यंग्य है, न उपेक्षा, बल्कि एक हल्की-सी अव्यक्त श्रद्धा है। पिछले दो दिनों में मैंने उसके मुँह से मुकर्जी की न जाने कितनी तारीफ़ सुनी थी।

मण्टो के कथनानुसार मुकर्जी में बेहद टैक्ट था। जनता क्या चाहती है,

यह उन्हें बखूबी मालूम था। और मण्टो अपनी बात पर ज़ोर देने के लिए अंग्रेज़ी मुहावरे का सहारा लेता कि मुकर्जी की उँगली जनता की नब्ज़ पर रहती है। वे न केवल खुद मेहनती थे, बल्कि साथियों से भी खूब मेहनत करवाते थे। उन्हें खुश करना आसान नहीं था। कहानी के एक-एक सीक्वेंस पर रात-रात बहस होती थी....आदि....आदि।

यह सब बताते हुए मण्टो इस बात पर ज़ोर देता था कि मुकर्जी से उसका तू-तड़ाक और गाली-गलौज तक का नाता था।

०

अभी हमें ज़्यादा वक्त नहीं गुज़रा था कि सहसा बाहर की ओर से आगे-आगे मुकर्जी और उनके पीछे दो व्यक्ति दाखिल हुए। उधर का व्यक्ति लम्बे कद और दोहरे बदन का था। उसकी उम्र तीस-पैंतीस वर्ष की होगी। उसका रंग काला था। उसकी नाक बहुत लम्बी थी और अनायास ध्यान खींचती थी, और उसके तने हुए सिर से उसके खासे अहंकारी होने का आभास मिलता था। उसने कमीज़-पतलून पहन रखी थी और कमीज़ की आस्तीनें चढ़ा रखी थीं। इधर का व्यक्ति मँझले कद और पचास-पचपन की वय का था। उसने स्लेटी रंग का सूट पहन रखा था।....

तीनों कमरे के अन्दर आ कर क्षण भर को ठिठके। तभी मुकर्जी ने हठात मुड़ कर हमारी ओर देखा और सिर का बहुत ही क्षीण-सा इशारा किया।

मण्टो तत्काल उठा। उसने सरगोशी में कहा, "आओ अश्क, बाहर चलें।"

मेरी समझ में कुछ भी नहीं आया, लेकिन मैं उठा और दूसरे क्षण हम दोनों कमरे से बाहर हो गये।

"आओ, कैण्टीन में चल कर चाय का एक-एक कप पिया जाये," मण्टो ने कहा और सीढ़ियाँ उतर चला।

मैं उसके पीछे हो लिया।

मण्टो ने पहले नीचे के हॉल के कोने में बैठी गोआनी टेलीफ़ोन ऑपरेटर से दो-एक मज़ाक किये, फिर वह दायीं ओर परेरा के कमरे में गया, जिस पर 'प्रोडक्शन सेक्रेटरी' की पट्टी लगी थी। लेकिन परेरा अभी आया न था। तब वह बाहर बरामदे में बने पार्टीशन के पीछे गया। वहाँ मेज़ पर छोटे-से कद और गोरे रंग के एक गुजराती साहब बाँहों की आस्तीनें चढ़ाये किसी सेट को ड्राइंग बना रहे थे।

"केम सापले सेठ," मण्टो ने उसकी पीठ पर हल्का-सा हाथ जमाते हुए कहा।

सापले ने सिर उठाया। उसकी आँखें अलसायी और अधमुँदी थीं।

"सारी, ओ" उसने कहा।

मण्टो ने मेरा परिचय दिया तो सापले ने उठ कर मुझसे हाथ मिलाया।

मण्टो ने उससे सेट के बारे में एकाध सवाल किया, एकाध मज़ाक किया और उसे भी कैण्टीन में चल कर चाय पीने की दावत दी।

सापले ने क्षमा माँगी तो मण्टो मुझे साथ लिये बरामदे की पिछली सीढ़ियाँ उतरा।

कैण्टीन को जाते हुए उसने बताया कि मुकर्जी के साथ आने वाले व्यक्ति डायरेक्टर नीतिन बोस और उनके आर्ट डायरेक्टर गोवा दा थे। गोवा दा को टैगोर के (दूर-पार के) सम्बन्धी होने का फ़ख्र था। मण्टो की बातों से यह भी मालूम हुआ कि नीतिन बोस 'सागर मूवीटोन' के सेठ चूनी भाई के लिए कोई पिक्चर बना रहे हैं, जिसमें 'फ़िल्मिस्तान' का भी योग रहेगा। मण्टो ने यह भी बताया कि उसी पिक्चर के सम्वाद लिखने के लिए मुझे बुलाया गया था।

प्रकट मण्टो की बातें सुनते हुए 'हाँ-हाँ' करता मैं उसके साथ चलता गया, लेकिन दिमाग़ में मुकर्जी के सिर का हल्का-सा इशारा और हमारा तत्काल उठ कर कमरे से बाहर हो जाना घूमता रहा।

मण्टो ने कहा था कि 'फ़िल्मिस्तान' में सब इकट्ठे मिल कर काम करते हैं और मेरी मेज़ उसी कमरे में लग जायेगी।....तब मैंने कल्पना में देखा कि मैं बड़े मनोयोग से सम्वाद लिख रहा हूँ। तभी मुकर्जी बाहर से आते हैं और सिर का हल्का-सा इशारा करते हैं और मुझे दूसरों के साथ कमरा खाली कर देना पड़ता है।

'नहीं, मुझे यह स्वीकार नहीं,'....'नहीं मुझे यह स्वीकार नहीं।' मैं मन-ही-मन बार-बार यही दोहराता रहा। लेकिन मण्टो मेरी मनःस्थिति से नितान्त अनभिज्ञ, बदस्तूर मुकर्जी की मुश्किल-पसन्दी और 'फ़िल्मिस्तान' में सम्वाद-लेखन की पद्धति के बारे में मेरा ज्ञान-वर्धन करता रहा।

बतर्ज़े हम्माल – बुलाहट कथाकार की

मण्टो ने मुकर्जी की बेहद तारीफ़ की थी और मुझे तत्काल अनुबन्ध पर हस्ताक्षर करने की राय दी थी। उस मुश्किल-पसन्द प्रोड्यूसर से इण्टर्व्यू में भी किसी तरह की मुश्किल पेश न आयी थी। तब तक हिन्दी-उर्दू में मेरी लगभग डेढ़ दर्जन किताबें छप चुकी थीं। वे सब-की-सब मैंने मेज़ पर रख दी थीं। मुकर्जी ने दायें हाथ से उन्हें मेज़ पर बिछा दिया, यों ही एक-दो किताबों को उठा कर देखा और पूछा – "ये सब आप की लिखी हैं?" मैंने कहा था – "जी हाँ!" तब उन्होंने कहा था, "जाइए, कॉण्ट्रेक्ट साइन कर दीजिए।"....और मुझे वहीं बैठा छोड़, उठ कर चले गये थे।

लेकिन यद्यपि मैं स्टूडियो रोज़ जाता, कुछ समय मुकर्जी के पास भी बैठता, मैंने महीना भर तक कॉण्ट्रेक्ट पर हस्ताक्षर नहीं किये थे। मण्टो के यहाँ से मैं कैडल कोर्ट, कैडल रोड में अपनी साली के यहाँ उठ आया था और कुछ दिन फ़िल्मी दुनिया में काम करने वाले अपने हिन्दी-उर्दू दोस्तों से मिलता रहा था। मैंने उनसे 'फ़िल्मिस्तान' और उसके कण्ट्रोलर की कार्य-प्रणाली के बारे में सुन-गुन ली। तब एकदम उलटी ही तस्वीर सामने आयी।

उन सबका ख़याल था कि मुकर्जी अव्वल दर्जे का सैडिस्ट और स्लेव ड्राइवर है। याने पुराने ज़माने के पर-यन्त्रणा-प्रिय दारोग़ाओं की तरह है, जो कोड़े मार-मार कर ग़ुलामों से काम लेते थे।

यह भी कि मण्टो ने उसकी जा-बे-जा तारीफ़ करके उसे अपने बस में कर रखा है। 'फ़िल्मिस्तान' में किसी दृश्य को पहले दूसरे लिखते हैं, बहस-मुबाहिसे में मण्टो उनके सम्वादों की धज्जियाँ उड़ा देता है। अन्त में वह खुद लिखता है, ज़ाहिर है कि बेहतर लिखता है। इसी तरीके से उसने शाहिद लतीफ़ और सन्तोषी को 'फ़िल्मिस्तान' छोड़ने पर मजबूर किया और इसी तरह वह मेरी दुर्गत बनायेगा।

शाहिद ने मुझे बताया कि एक बरस पहले उसने मेरे नाम की सिफ़ारिश की थी तो मण्टो ने कहा था – 'अश्क इज़ अ डेंजरस परसन।'[1] अब अगर तुम ख़तरनाक आदमी से एकदम बेज़रर[2] हो गये हो तो कोई तो कारण होगा। चूँकि तुमने दिल्ली में मण्टो को परेशान किया था, वह तुम्हें यहाँ परेशान करेगा।

मुझे शाहिद की बात ठीक लगी। चूँकि ऑल इण्डिया रेडियो (दिल्ली) में मैंने मण्टो के एकांकी 'आवारा' की ग़लतियाँ निकाली थीं, जिससे भरी मीटिंग में उसकी खिल्ली उड़ गयी थी, इसलिए उस वक्त, जब फ़िल्मिस्तान' के कथा-विभाग में उसका एकछत्र राज्य था, वह मेरे सम्वादों के परखचे उड़ा कर मुझे मेरी औक़ात दिखाना चाहता था।

बहरहाल, सोच-समझ कर मैंने यह किया कि अनुबन्ध पर तब तक हस्ताक्षर न करूँ, जब तक तीन-चार बातें तय नहीं हो जातीं :

१ – कि नोतिन बोस की पिक्चर के सम्वाद मैं, और केवल मैं ही लिखूँगा।

(इस उद्देश्य के लिए अनुबन्ध पर हस्ताक्षर करने से पहले, मैंने एक दृश्य के तीन वर्शन लिखे और बड़ी चतुराई से पहले साधारण तौर पर, फिर ज़रा ज़ोर दे कर और तीसरे वर्शन को पूरी नाटकीयता के साथ पढ़ कर उन्हें मुकर्जी से पास करा लिया। इस सन्दर्भ में मैंने डायरेक्टर नोतिन बोस के असिस्टेण्ट डायरेक्टर जवाद हुसैन को भी (जो डायरेक्टर बोस के एसिस्टेण्ट ही नहीं पीर-बावर्ची-

१. अश्क एक ख़तरनाक आदमी है। २. जो नुकसान न पहुँचा सके; निरीह।

भिश्ती-खर भी थे) अपनी ओर मिला लिया। और उन्होंने नोतिन दा के सामने मेरे सम्वादों की सरलता, चुस्ती और रवानी की बहुत प्रशंसा की।)

२ – कि मेरे लिए कमरा बिलकुल अलग होगा, जहाँ सिर्फ़ मेरी मेज़-कुर्सी रहेगी।

(ऊपर की मंज़िल में मुकर्जी के कमरे में एक ओर लकड़ी का पार्टीशन लगवा कर एक कमरे की व्यवस्था कर दी गयी, जिस पर मेरे नाम की पट्टी लगा दी गयी।)

३ – कि कम्पनी मुझे कहीं निकट ही मकान ले कर देगी।

(और मुकर्जी ने मुझे मलाड ही में एक फ़्लैट ले दिया और दो हज़ार रुपये दो वर्ष का किराया पेशगी दे दिया।)

४ – मण्टो ने अन्तिम तौर पर जितने वेतन की पेशकश की थी, उससे पच्चीस रुपये ज़्यादा लेने की माँग की।

(इस एक मनोवैज्ञानिक नुक्ते पर बल देना मुझे ज़रूरी लगा।)

०

अनुबन्ध के बाद शायद तीसरे दिन की बात है, मैं मुकर्जी के बराबर अपने कमरे में बैठा काम कर रहा था कि अचानक बड़े ज़ोर से आवाज़ आयी –

"अ-ऽ-श्क!"

मैं समझ गया कि मुकर्जी बुला रहे हैं। लेकिन उस आवाज़ में कुछ ऐसा आदेश और बुलन्दी थी कि मुझे लगा, शायद किसी दूसरे को आवाज़ दी गयी है।

फिर दूसरे क्षण वैसी ही गूँजती हुई लम्बी आवाज़ आयी – "अ-ऽ-श्क!"

अब किसी सन्देह की गुंजाइश न रह गयी थी। गुस्सा तो मुझे बहुत आया – किसी प्रतिष्ठित लेखक को बुलाने का यह क्या ढंग है? लेकिन मैं चुप रहा।

फिर तीसरी बार आवाज़ आयी।

मैं पूर्ववत चुप बैठा रहा। कुछ क्षण ख़ामोशी छायी रही। मैंने लिखने की कोशिश की, लेकिन मुझसे एक शब्द भी लिखा न जा सका। 'कोई ज़रूरी काम न हो?' मन-ही-मन मैंने सोचा, तीन ही दिन हुए थे नौकरी किये, 'ज़रा देखूँ क्या बात है!'

और कमरे से निकल, जैसे अपने ध्यान में मग्न, मैं बहुत धीरे-धीरे चलता मुकर्जी के कमरे के आगे से गुज़रा।

"अश्क साहब!" उन्होंने सहज ढंग से पुकारा।

मैं पलटा। दोनों हाथ बाँधे उनके सामने जा खड़ा हुआ और निहायत विनम्रता से मैंने पूछा – "हुक्म कीजिए।"

"मैंने आपको आवाज़ें दीं!" उन्होंने किंचित आश्चर्य-भरी खीझ से कहा।

"मुझे ?" मैंने बड़े भोलेपन से वैसे ही हाथ बाँधे-बाँधे, ज़रा सिर झुका कर कहा। "मैंने समझा, आप हम्माल* को बुला रहे हैं।....फ़रमाइये क्या हुक्म है ?"

"कुछ नहीं, जाइए !"

और उस दिन के बाद मुकर्जी ने फिर कभी वैसे आवाज़ नहीं दी। मैं दो बरस 'फ़िल्मिस्तान' में रहा, उन्होंने कभी मुझे 'अश्क' कह कर नहीं पुकारा, हमेशा 'अश्क साहब' कहा। हाँ, यह और बात है कि मैंने कभी उनका दोस्त या चमचा होने की कोशिश नहीं की और न मण्टो की तरह मुझे इस बात का फ़ख्र रहा कि मुकर्जी से मेरा तू-तड़ाक का नाता है।....बॉस और मुलाज़िम में जो औपचारिकता होती है, मैंने उसे बनाये रखा और जितने दिन वहाँ रहा, पूरे स्वाभिमान से रहा।

अभिनय का ध्यान या सम्वाद का

नीतिन बोस की पिक्चर 'मज़दूर' की शूटिंग शुरू हो गयी थी। स्टूडियो के बाहर अहाते में एक ओर चटाइयों से तीन कमरे बना दिये गये थे। नीचे रंगीन टाट बिछ गये थे। फ़र्नीचर लग गया था। पहला कमरा नीतिन बाबू का था, जिसमें 'मज़दूर' के कथाकार देवी चटर्जी की भी मेज़ लगी थी। दूसरे में नीतिन बाबू के एसिस्टेण्ट जवाद हुसेन, यूनिट के प्रोडक्शन सेक्रेट्री (जो लम्बे-तगड़े, गोरे-चिट्टे गुजराती थे) तथा अभिनेता वग़ैरा बैठते थे। तीसरा कमरा मेरा था। शूटिंग शुरू होते ही, मुकर्जी के बराबर के कमरे से उठ कर, मैं वहाँ प्रतिष्ठित हो गया था।

देवी चटर्जी साम्यवादी विचारों के थे। कलकत्ता में अंग्रेज़ी के अध्यापक थे। उन दिनों कोई बंगला फ़िल्म बनी थी, जो मज़दूरों को ले कर लिखी गयी थी और बंगाल में हिट हुई थी। बंगला कम्पनी 'हमसफ़र' के नाम से उसी का हिन्दी वर्शन बना रही थी। नीतिन बोस चाहते थे। (या कौन जाने सेठ चूनी भाई ही ने चाहा हो) कि बम्बई में उस फ़िल्म का हिन्दी वर्शन आने से पहले उसी तरह की हिन्दी फ़िल्म रिलीज़ कर दी जाय। देवी चटर्जी ने वह फ़िल्म देखी थी, सो उन्होंने कुछ वैसी ही कहानी लिखी थी। नाम रखा गया – 'मज़दूर'। उसे नीतिन बाबू डायरेक्ट कर रहे थे। मुझे उसके सम्वाद लिखने थे। देवी चटर्जी कॉलेज से छै महीने की छुट्टी ले कर आये हुए थे, जो उन्होंने बाद में छै महीने के लिए और बढ़ा ली थी। वे बड़े हँसमुख और बामज़ाक आदमी थे। साहित्यकार थे। हम जल्दी ही खुल गये और फिर लंच के वक्त इकट्ठे बैठने लगे। ('मज़दूर' बन

*. बम्बइया भाषा में चपड़ासी।

गयी तो वे कलकत्ता लौट गये। फ़िल्मी दुनिया में फिर उनका नाम नहीं सुना। उनसे फिर सत्ताइस वर्ष तक मुलाकात नहीं हुई। अचानक जब १९७२ में मुझे सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार मिला और मैं पुरस्कार लेने दिल्ली गया तो वे मेरे साथ की कुर्सी पर बैठे थे। उन्हें भी पुरस्कार मिला था।)

'मज़दूर' में नायिका और उपनायिका दोनों नयी थीं – इन्दुमति और वीरा। इन्दुमति मराठी थी और वीरा पारसी। दोनों युवा। इन्दुमति मँझले कद, तीखे नाक-नक्शे और खूब भरे वक्ष वाली थी। उस पर नज़र पड़ते ही सबसे पहले निगाह उसके वक्ष पर जाती। रंग उसका साँवला था। लेकिन उसे मज़दूर लड़की का पार्ट करना था और उस भूमिका के लिए वह नितान्त उपयुक्त थी। वीरा अपेक्षाकृत लम्बे कद की, गोरे रंग की, चन्द्रमुखी थी। सीने की अपेक्षा उसका मुख ज़्यादा ध्यान खींचता था।

सम्वाद मैं बहुत ही रवाँ उर्दू में लिखता था। चूंकि 'फ़िल्मिस्तान' का सम्वाद-निर्देशक दीक्षित लिरेंजाइटेस से बीमार पड़ा था और कोई इलाज कारगर न हो रहा था, इसलिए सम्वाद-निर्देशक का काम भी मैं ही करता था। मेरी पहली फ़िल्म और आर्टिस्ट अहिन्दी भाषी। मैं चाहता था फ़िल्म बॉक्स-ऑफ़िस पर हिट हो या फ़्लाप, लेकिन मेरे सम्वाद जम जायें और अपने-बेगाने मेरे सम्वादों की प्रशंसा करें। यह तभी सम्भव था, जब अभिनेता शुद्ध उच्चारण से, उचित स्थलों पर ज़ोर देते हुए, भावों को ठीक ढंग से अभिव्यक्त करते हुए सम्वाद बोलें। इसलिए जब तक उच्चारण शुद्ध न हो जाता, अभिनेता ठीक से सम्वादों को रिहर्सल न कर लेते, मैं सीन फ़िल्माने की इजाज़त न देता।

इस सिलसिले में मुझे एक दिन की याद आती है, जब नासिर हुसैन नाम का अभिनेता (जो फ़िल्म में कदाचित मज़दूर नेता का पार्ट कर रहा था और बार-बार सम्वाद ग़लत बोल रहा था) बेतरह चिढ़ गया और कहने लगा कि हम आपके डायलॉग बोलने का ध्यान रखें या अपनी ऐक्टिंग का ?

मैंने कहा कि डायलॉग ऐक्टिंग का हिस्सा है। अगर आपने सम्वाद ग़लत बोले तो समझिए कि आपने अभिनय ग़लत किया। जो लोग भाषा जानते हैं, उनको आपके ग़लत उच्चारण से बेहद कोफ़्त होगी।

"आपको ऐक्टिंग करनी पड़े तब पता चले। बैठे हमारी ग़लतियाँ निकालते रहते हैं।" उसने सव्यंग कहा।

मुझे ताव आ गया। मैंने कहा, "मैं आपको ऐक्टिंग भी करके दिखा दूँगा और यकीन रखिए, आपकी तरह इतने रीटेक भी नहीं दूँगा।"

और मैंने जवाद हुसेन को पटा कर फ़िल्म में लड़के के पिता का (या चाचा का मुझे याद नहीं) रोल ले लिया। मित्र लोग आपत्ति न करें इसलिए एक रोल मैंने श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी को भी दिलवा दिया। 'मज़दूर' फ़िल्म हमीं

दोनों से शुरू होती है। अभिनय मेरे लिए हमेशा सहज रहा है। मुझे बिना रीटेक काम करते देख कर फिर नासिर हुसेन ने चूं नहीं की। मैं जैसे कहता, वह उसी तरह सम्वाद अदा करता।

इन्दुमति

इसी सिलसिले में मुझे वीरा और इन्दुमति की याद आती है। वीरा सुन्दर तो काफ़ी थी, मशहूर न होना चाहती तो अपने धनी रिश्तेदारों के विरोध के बावजूद फ़िल्मों में क्यों आती, लेकिन दिमाग़ से वह बिल्कुल ठस थी। सुन्दर थी; मिठ-बोली थी, उसकी आँखों में कशिश भी थी, पर उसके यहाँ 'ग्रे मैटर' की यकसर कमी थी। मुझे याद है, एक बार तीन पंक्तियों के सम्वाद के लिए, जो उसे अकेले बोलना था – याने कैमरा सिर्फ़ उस पर केन्द्रित था और दूसरा कोई वहाँ कैमरे की हद में नहीं था, सुबह से दोपहर हो गयी और उसने डायलॉग बोल के नहीं दिया।

लेकिन इन्दुमति उससे भिन्न थी। वह पहली ही बार फ़िल्म में उतरी थी। सौभाग्य से उसे भूमिका भी नायिका की मिली थी। वह बहुत निष्ठा से अपने सम्वाद याद करती, पूरी तनदेही से ऐक्टिंग करती और मुझसे अनुरोध करती कि जब तक उसके सम्वाद एक-दम फ़िट-फ़ाट न हो जायें, मैं टेक की इजाज़त न दूँ।

मुझे एक दृश्य की याद है, जिसमें सम्वाद लम्बा था और इन्दुमति से यह आशा थी कि वह उसे बोलते समय अन्त में, भावनाओं की शिद्दत से, अनायास रो पड़ेगी।

आम तौर पर ऐसे दृश्यों में अभिनेत्रियों की आँखों के कोनों ग्लिसरीन लगा दी जाती है और उनके बड़े-बड़े आँसू फ़िल्मा लिये जाते हैं।

लेकिन मैं चाहता था कि यदि सम्वाद बोलते-बोलते वह अपने आपको इतना वर्क-अप कर ले कि आँसू अनायास उसकी आँखों से बहने लगें तो सम्वाद और रोना नितान्त स्वाभाविक लगेगा। मैंने उसे दो बार सम्वाद बोल कर दिखाये और यह भी बताया कि किस प्रकार यदि वह ठीक से बोलेगी तो सम्वाद में इतनी जान है कि आँसू बे-इख़्तियार उसकी आँखों से बहने लगेंगे।

उसे कई बार रिहर्सल करनी पड़ी, लेकिन अन्ततः उसने सम्वाद ठीक से बोल कर दिखा दिया। पहली बार जब टेक हुआ तो उसने इतना बढ़िया अभिनय किया कि नीतिन बाबू दाद दे उठे। लेकिन दुर्भाग्य से किसी तकनीकी ख़ामी की वजह से रीटेक लेना पड़ा। इस बात का श्रेय मैं उसे दूँगा कि यद्यपि वह उस

दृश्य को रिहर्सलों और टेक में बेहद थक गयी थी, लेकिन उसने ग्लिसरीन लगवाने से इनकार कर दिया। अदम्य इच्छा-शक्ति से काम ले कर उस रीटेक में भी इतनी अच्छी तरह सम्वाद बोला कि अन्त तक पहुँचते-पहुँचते उसकी आँखों से धारा-प्रवाह आँसू बहने लगे। रीटेक ओ० के० हो गया, वह तब भी रो रही थी। हमने उसकी बहुत प्रशंसा की और पीठ ठोंकी। यदि 'मज़दूर' में मेरे सम्वाद १९४५ के बेहतरीन सम्वाद समझे गये तो मैं स्वीकार करता हूँ कि इसके पीछे मेरे श्रम के अलावा, अभिनय में इन्दुमति की निष्ठा और अध्यवसाय का बहुत योग था।

ज़ाहिर है, उसका यह उत्साह मुझे बहुत अच्छा लगता था और पूर्वाभ्यास शुरू होने से पहले मैं कोशिश करता कि न केवल उसे सम्वाद याद करा दूँ, वरन उसका उच्चारण भी शुद्ध कर दूँ। वह भी अवकाश में मेरे कमरे में आ जाती और मुझसे सम्वाद बोलना सीखती। धीरे-धीरे हममें काफ़ी घनिष्टता हो गयी। मुझे उसकी निष्ठा, अध्यवसाय और उत्साह अच्छा लगने लगा और मैं ज़्यादा-से-ज़्यादा वक्त निकाल कर उसे सम्वाद याद कराने लगा। वह लंच टाइम में आ जाती और प्रायः मेरे साथ ही खाना खा लेती। मैंने पत्नी से कह दिया था कि खाना भेजते वक्त थोड़ा ज़्यादा भेज दिया करे। इन्दुमति कई बार लंच टाइम में आ जाती है।

सात शादियों की बात

फ़िल्मी दुनिया में स्कैण्डल बहुत जल्दी शुरू होते हैं। जब इन्दुमती कैण्टीन में, मेकप-रूम में अथवा अन्य अभिनेत्रियों के साथ खाना खाने के बदले मेरे कमरे में लंच लेने लगी तो स्टूडियो में तरह-तरह की बातें उड़ने लगीं। चूंकि कुछ ही साल पहले मैंने एक ही बरस में दो शादियाँ कर ली थीं, इसलिए (चूंकि लोग वास्तविक स्थिति तो जानते नहीं थे) मैं ख़ासा बदनाम था। इन्दुमति रोज़ मेरे साथ बैठने लगी और कई बार स्टूडियो से हम इकट्ठे स्टेशन को जाने लगे तो लोगों ने यही समझा कि मैंने उसे पटा लिया है और मैं उससे शादी कर रहा हूँ।

एक दिन जाने मैं कहाँ जा रहा था – देवधर हाल या रेडियो स्टेशन – मुझे इतना याद है कि मैं स्टूडियो से छुट्टी ले कर बाद दोपहर गोरेगाँव से गाड़ी पकड़, सैण्डहर्स्ट रोड या मेरीन लाइन्ज़ उतरा और सड़क पार कर किसी गली से हो कर दायें हाथ की किसी दूसरी गली में जा रहा था कि मुझे आगे से विश्वामित्र 'आदिल' और दम्मो, एक-दूसरे की कमर में हाथ दिये, मस्ती से झूमते और बातें करते हुए आते दिखायी दिये।

०

दम्मो का पूरा नाम श्रीमती दम्यन्ती साहनी था, मैंने उन्हें दो-एक बार 'मिसेज साहनी' अथवा सिर्फ़ 'भाभी' पुकारना चाहा, पर वे केवल 'दम्मो' कहाना पसन्द करती थीं। उन्होंने दो-एक बार टोका भी, पर मैं उन्हें कभी 'दम्मो' नहीं पुकार सका।

आदिल लम्बा-तगड़ा ख़ूबसूरत नौजवान शायर था। चौड़ा माथा, लम्बी नाक, हँसमुख, खुशबाश और फक्कड़। सिर्फ़ एक दोष था। उसकी दन्त-पंक्ति अन्दर की ओर की थी। हंसता था तो वह हँसी अजीब चाटुकारिता-भरी लगती थी।

जब ऑल इण्डिया रेडियो (दिल्ली) में वार्ता विभाग के इंचार्ज कवि नून० मीम० राशिद तरक्की करके प्रोग्राम डायरेक्टर हो गये थे तो उनकी जगह 'आदिल' ही प्रोग्राम असिस्टेण्ट हो कर आया था। आधुनिक शायर था। बड़ी प्यारी नज़्में कहता था। उसकी कहानी 'सीढ़ियाँ,' जो आज के जदीद उर्दू कथा-कारों के मुकाबले में भी कहीं ज़्यादा जदीद थी — उन्हीं दिनों छपी थी और चर्चित हुई थी। इतने वर्ष बीत जाने पर, 'आदिल' की एक छोटी-सी प्यारी नज़्म मुझे आज भी याद है :

तुम इस तरफ़ बड़ी मुद्दत के बाद आयी हो
इधर अजीब-सा मंजर[1] है, ये भी देख चलो

ये सर झुकाये हुए मलगजी-सी दीवारें
फटे-पुराने-से काई के चीथड़े ओढ़े

ये चन्द ताक़चे, जिन पर बुझे दियों के निशाँ
ये ख़स्ता हाल-से शहतीर सहमे-सहमे-से

ये एक फीका-सा बे-बर्ग-ो-बार[2] साया-सा
कभी दरख़्त था! रहने दो, इनको रहने दो

कि ऐसे सैकड़ों बिखरे हुए मनाजिर हैं
जिन्हें मैं देख चुकी, देख कर सँभल भी चुकी

समझ गया हूँ, मगर एक लम्हा और ज़रा
ये सूने-सूने खँडर मुस्करा उठे हैं फिर

१. दृश्य। २. बिना पत्तों और टहनियों के।

ये सोचते हैं कि फिर लौट आयी हैं किरनें
फ़िज़ा में तैर रही हैं हँसी अबाबीलें

नहीं, नहीं, मुझे जाने दो...जाओ, जाओ भी
खँडर ख़ामोश हैं अब सोच भी नहीं सकते!

क्योंकि उस ज़माने में ऑल इण्डिया रेडियो में हिन्दू प्रोग्राम असिस्टेण्टों के साथ थोड़ी-बहुत ज़्यादती अनिवार्य थी, इसलिए जब कृशन चन्दर को तरक्की नहीं दी गयी और उनसे जूनियर किसी मुसलमान अफ़सर को दे दी गयी तो कृशन ने त्यागपत्र दे दिया और पूना की 'शालामार फ़िल्म कम्पनी' में चले गये। 'आदिल' उन्हें बहुत मानता था। उसने भी इस्तीफ़ा दे दिया। मुझे याद नहीं, दिल्ली से, लखनऊ से या बम्बई से। बहरहाल, जिन दिनों मैं 'फ़िल्मिस्तान' में गया, अचानक एक दिन 'आदिल' भी अँधेरी स्टेशन पर मिल गया और उसने मुझे बताया कि वह त्यागपत्र दे आया है। उन दिनों वह फनी मजुमदार के लिए कुछ लिख रहा था और उसने चाहा था कि मैं दो-एक फ़िल्मी गीत लिखने में उसकी मदद करूँ। 'आदिल' वरसोवा के 'चार बँगले' में कृष्ण के यहाँ (कई दूसरों की तरह) ठहरा हुआ था। मेरे साथ उसकी पुरानी दोस्ती थी। मैं उसकी प्रतिभा का भी कायल था, इसलिए हम गाहे-गाहे मिलते रहते थे।

एक दिन उसी ने मुझे बताया था कि दम्मो उस पर मरने लगी है और कई बार जब रात की शूटिंग होती है, बलराज रात भर ग़ायब रहता है तो वह 'आदिल' को रोक लेती है। 'आदिल' ने तब तक शादी नहीं की थी और कुँवारा ही था। दम्मो बहुत ख़ूबसूरत औरत थी। मुझे याद है कि मैं लाहौर में रहता था और चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के यहाँ जाया करता था तो मैंने उनके ड्राइंगरूम में मैण्टलपीस पर एक बहुत बड़े चौखटे में लगा फ़ोटो देखा था, जिसमें गुलमर्ग के बर्फ़ का दृश्य था। कमर तक जमी बर्फ़ में कटे हुए रास्ते पर बलराज साहनी और सन्तोष (जो बाद में सन्तोष वात्स्यायन और फिर सन्तोष साहनी बनी) जा रहे थे। सामने कॉटेज की छत बर्फ़ से ढकी थी और छज्जे पर से गिरता हुआ पानी भी जम गया था। उस ज़माने में बहुत लोग सन्तोष पर मरते थे। चन्द्रगुप्त की तो वह साली ही थी — श्रीमती सत्यवती मलिक की बहन। मेरे एक दोस्त धर्मवीर आनन्द, जो नये-नये एग्ज़िक्टिव इंजीनियर हुए थे, उसकी सुराही-दार गर्दन का ज़िक्र करते तो उनकी आँखों में चमक आ जाती। उस ज़माने में ही मैंने सुना था कि चचेरे या मौसेरे भाई-बहन होते हुए भी बलराज साहनी और सन्तोष दोनों एक-दूसरे से प्यार करते हैं। तभी जब मुझे मालूम हुआ कि बलराज ने पिण्डी की एक बहुत ख़ूबसूरत लड़की दम्मो से शादी कर ली है और दोनों गवर्नमेण्ट कॉलेज के मंच पर होने वाले नाटक — 'पुल बनाने वाले' — में भाग ले

रहे हैं तो मैं देखने गया था। मुझे दोनों की जोड़ी कामदेव और रति की जोड़ी लगी थी।

मुझे याद है, शादी करने बाद शायद वे शान्ति निकेतन गये थे। फिर बलराज बी० बी० सी० में चले गये थे। वहाँ से आये तो दम्मो फ़िल्मों में काम करने लगी थी और बलराज भी इस कोशिश में संलग्न थे।

लेकिन उस शाम वही दम्मो खुलेआम 'आदिल' की कमर में हाथ दिये, झूमती हुई चली आ रही थी।

०

'आदिल' बहुत खुश था। उसने मुझे रोक लिया और पूछा, "कहाँ जा रहे हो ?" मैंने बताया तो उसने कहा, "चलो, हमारे साथ एक कप चाय पिओ।"

मैं मुड़ चला तो उसने कहा, "यार, सुना है तुम इन्दुमती के साथ चौथी शादी करने जा रहे हो।"

जैसा कि मेरी आदत है, मैंने कभी किसी कैनार्ड अथवा अफ़वाह का खण्डन नहीं किया। मैंने कहा, "यार, मामला चल तो रहा है। देखो, अगर सिरे चढ़ जाय !"

दम्मो बिगड़ गयीं। बोलीं, "मैं जा कर कौशल्या जी से कह दूँगी।"

मैंने कहा, "मैं कौशल्या से कुछ नहीं छिपाता। वही तो रोज खाना बना कर भेजती है हमारे लिए।"

मुझे इतना याद है कि वहाँ करीब ही कोई रेस्तराँ था। हम वहाँ आ बैठे तो फिर दम्मो बमकने लगीं कि अभी चार साल नहीं हुए आपकी शादी को और आप फिर सोच रहे हैं शादी करने की। आपको शर्म नहीं आती।

मैंने हँस कर कहा – "दम्मो भाभी, अब मैं क्या करूँ ? जब भगवान ने मेरे भाग्य में सात शादियाँ लिखी हैं तो मैं सात शादियाँ करूँगा।"

मैं दम्मो को बहुत तेज़ समझता था। लेकिन सुन्दर चाहे जितनी हों, तेज़ बिल्कुल नहीं थीं। जिद्दी होंगी, हठी होंगी। बलराज ने ज़रा किसी दूसरी लड़की को लिफ़्ट दी होगी तो बराबरी के तौर पर उन्होंने भी किसी मर्द को लिफ़्ट दे दी होगी। मैंने सुना था कि इंग्लिस्तान में वे एक बार लड़ कर अलग रहने लगी थीं। बहरहाल, उस शाम मेरी आँखों में प्रकट शरारत और मेरे लहजे में पुरमपुर झूठ को वे पहचान न सकीं और गुस्से से बोलीं, "मैं मलाड जाऊँगी और कौशल्या से कहूँगी कि वह भी सात शादियाँ करे।"

मैंने कहा, "कौशल्या को मैंने कोई पिंजरे में थोड़ी बन्द कर रखा है, आप शौक से जाइए और कहिए कि सात क्या दस शादियाँ करे !"

चाय का एक कप पी कर ही मैं मन-ही-मन हँसता हुआ उन्हें वहीं छोड़ कर

चला आया। कुछ वर्षों बाद जब मैंने सुना कि एक शाम दम्मो अचानक दिवंगत हो गयीं और बलराज साहनी ने साल भर भी शोक नहीं मनाया और सन्तोष को विदेश से बुला कर उससे शादी कर ली, तो बम्बई की वह शाम मेरी आँखों में घूम गयी और मुझे हैरत नहीं हुई।

डेढ़ सौ रुपये मासिक का खसारा

जब 'मज़दूर' की शूटिंग ज़ोरों से शुरू नहीं हुई थी तो स्क्रिप्ट पर काम करने के लिए मैं, देवी चटर्जी और नीतिन बाबू इकट्ठे बैठते थे। तब कई बार हम लंच भी इकट्ठे ले लेते थे।

नीतिन बाबू के लंच में मछली ज़रूर होती। रोहू नहीं; न पाम्प्लेट, न झींगा; एक छोटी जाति की काँटों-भरी चमकदार मछली होती, तीन-चार अदद, जो वे हमसे बाँट लेते। उँगलियों से टटोल-टटोल कर, लगभग मछली का मलीदा बनाते हुए, वे उसके काँटे निकालते और ग्रास के साथ मुँह में रखते तो प्रशंसा से कहते – 'की चोमोत्कार ! बेश भालो तोइरी होय छे !' लगभग महीना भर में (कि जिस अर्से में हमने स्क्रिप्ट ठीक किया) भले ही मैं उस मछली का चमत्कारी स्वाद न जान पाया होऊँ, पर उँगलियों से टटोल-टटोल कर मैं उसके काँटे निकालना सीख गया। मैं समझता हूँ कि मैं छोटी-से-छोटी मछली के बारीक-से-बारीक काँटे भी बखूबी निकाल सकता हूँ।

इसके अलावा मैं उस एक महीने में बंगला के कुछ शब्द भी सीख गया। पढ़े-लिखे अंग्रेज़ी-ज़दः लोग जैसे मिलने पर हाथ मिलाते हुए 'हाउ डू यू डू' कहते हैं और उत्तर में दूसरा भी यही वाक्य दोहरा देता है और जैसे गुजराती दोस्त मिलने पर पूछते हैं – 'केम सेठ' और उत्तर मिलता है – 'सारो छे !' – उसी तरह नीतिन बाबू जब सुबह स्टूडियो आते तो हमसे पूछते – 'कैमोन आछेन ?' (याने – कैसे हैं) और हम कहते 'भालो आछी' अथवा 'बेश भालो' याने 'खूब अच्छे।' इनके अलावा शब्द 'भालो बाशी' और वाक्य – 'आमी तुमा के भालो बाशी' (मैं तुमसे प्यार करता हूँ), 'तार पोरे' (उसके बाद, याने फिर) जैसे बोल-चाल के शब्द भी मैं सीख गया। चूंकि देवी बाबू को एक गाली भी बहुत प्रिय थी – 'बोका' और बहुत क्रोध आने पर वे 'बोका-चोदा' बोलते थे ! इसलिए वह भी मैंने सीख ली, यद्यपि कभी इस्तेमाल नहीं की।

नीतिन बाबू और देवी चटर्जी के साथ एक साल बिताने पर इतना हुआ कि यदि कोई धीरे-धीरे बंगला बोले तो मैं पचास-साठ प्रतिशत समझ जाता हूँ और धीरे-धीरे पढ़ भी लेता हूँ।

शुरू के दिनों की बात है। मुकर्जी ने मुझे मलाड में मकान ले दिया था। मैं

कैडल रोड से उठ कर यहाँ आ गया था। तभी एक दिन लंच में नीतिन बाबू ने
पूछा कि मलाड में मैं सेटल तो हो गया हूँ और सब ठीक-ठाक तो है ना ?

मैंने यों ही उन्हें प्रसन्न करने को कुछ सच्ची-झूठी बात कह दी कि मैं तो
दिल्ली में सरकारी नौकरी पर था। साढ़े तीन सौ रुपये मिलते थे। पत्नी भी
पी० आर० डी० में लगभग इतने ही पाती थी। दफ़्तर के निकट ही तीन कमरे
और खुले आँगन वाला सस्ता मकान था। कुल तेईस रुपये महीना किराया। दफ़्तर
पास ही था, सो साइकिल पर आते-जाते थे। यहाँ सौ रुपये तो मकान के किराये
में उठ जाते हैं। फिर लोकल ट्रेन पर आने-जाने में काफ़ी रुपये खर्च हो जाते
हैं। चीज़ें भी दिल्ली की अपेक्षा मँहगी हैं। पत्नी काम कर नहीं सकती। फिर
वहाँ पक्की नौकरी थी। यहाँ कोई ठिकाना नहीं। अक्ल तो यही कहती थी कि
कॉण्ट्रेक्ट न करूँ और वापस दिल्ली चला जाऊँ, लेकिन जब मुझे मालूम हुआ कि
निर्देशक नीतिन बाबू हैं तो मेरा मन बेईमान हो गया। 'न्यू थियेटर्स' की फ़िल्मों
को पसन्द करता रहा हूँ और आपकी 'धरती माता' मुझे बहुत पसन्द थी, इसलिए
मैं कम तनख्वाह पर भी मान गया। लेकिन कभी सोचता हूँ कि ग़लती की।

अब सच्ची बात तो यह है, मैं चाहता ही नहीं था कि पत्नी मिलिट्री में नौकरी
करे। चूंकि मेरे डेढ़ सौ रुपये महीने में उसकी कल्पना के मुताबिक घर का स्तर
नहीं रखा जा सकता, इसलिए उसने नौकरी कर ली थी। तब मैंने भी मिलिट्री में
साढ़े तीन सौ की नौकरी कर ली थी। पर वह मुझे पसन्द नहीं थी। इसलिए मैंने
तय किया कि पहले इसे पैसे कमा कर दिखाऊँ, फिर साहित्यकार के तौर पर
अपने आदर्श की बात करूँ। इसलिए जब मण्टो ने बुलाया तो मैं तय करके ही
आया था कि फ़िल्मी नौकरी स्वीकार कर लूंगा और दायें-बायें रुपया कमाऊँगा।
लेकिन मेरी उस सच्ची-झूठी के जवाब में नीतिन बाबू ने कुछ ऐसी बात कह दी
कि मैं सन्नाटा खींच गया।

उन्होंने कहा — जब आपको बुलाने की बात हुई थी तो तय हुआ था,
आपको साढ़े छै सौ रुपये दिये जायेंगे। लेकिन आप तो पाँच सौ पर ही तैयार
हो गये।

मुझे लगा, जैसे मण्टो ने मेरे साथ बहुत बड़ा धोखा किया और 'फ़िल्मिस्तान'
वाले हर माह मेरा डेढ़ सौ रुपया मारे ले रहे हैं।

क्षण भर मैं कुछ नहीं कह पाया। फिर मैंने जैसे उन्हें अपने भेद का साझीदार
बनाते हुए कहा कि नीतिन दा, मेरे मित्र ने मेरे साथ धोखा किया। चूंकि वह
स्वयं कम पाता है, इसलिए शायद उसे स्वीकार नहीं हुआ कि मैं उससे ज़्यादा
पाऊँ। वह तो मुझे साढ़े तीन सौ दिला रहा था। कहता था कि मैं इतने पर ही
आया था, लेकिन मैं तैयार नहीं हुआ। सो उसने कहा डी० ए० वग़ैरा मिला कर
[illegible] पौने पाँच सौ रुपये मिल जायेंगे। लेकिन मैंने खर्च का हिसाब लगाया तो लगा

कि कम-से-कम छै सौ चाहिएँ। मुकर्जी से कहा तो उन्होंने आश्वासन दिया कि अभी
पाँच सौ ले लीजिए। तरक्की दे देंगे।....सो मैं सोच रहा हूँ कि आजकल में अर्ज़ी
दूँ कि मुझे डेढ़ सौ रुपये की तरक्की दीजिए, वरना मुझे छुट्टी दीजिए। अभी तो
मैंने नौकरी से इस्तीफ़ा नहीं दिया, मैं वापस चला जाऊँगा।

कुछ क्षण हम लोग चुपचाप खाना खाते रहे। फिर मैंने कहा, "नीतिन दा,
यदि आप कृपा करें और कहें कि आप मुझे नहीं छोड़ सकते तो मुझे तरक्की
मिल सकती है। और मेरे साथ किये गये अन्याय का प्रतिकार हो सकता है।"

नीतिन दा ने वायदा किया कि वे ज़रूर मेरा साथ देंगे।

इससे पहले कि मैं इस प्रसंग में आगे कुछ कहूँ, मैं यह स्वीकार करूँगा कि
स्थिति वैसी नहीं थी, जैसी मैंने नीतिन बाबू को बतायी थी। पहले तो यह कि जब
मण्टो ने मुझे अन्तिम बार कहा कि तुम्हें पौने पाँच सौ लेने हों तो कॉण्ट्रेक्ट साइन
कर दो, वरना सेकिण्ड क्लास का किराया लो और चले जाओ, तब यद्यपि मैंने
उससे कुछ नहीं कहा था, लेकिन मन में तय कर लिया था कि पौने पाँच सौ तो
नहीं ही लूंगा। यदि मुझे पता होता कि वे लोग मुझे साढ़े छै सौ देने को तैयार
हैं तो मैं छै सौ पर भी तैयार न होता। लेकिन एक तो मुझे इस बात का पता
नहीं था, दूसरे जैसा कि मैंने कहा, व्यक्तिगत कारणों से मन-ही-मन मैं तय कर चुका
था कि फ़िल्मी दुनिया में आने के इस सुयोग का मैं पूरा लाभ उठाऊँगा; इसलिए
मैंने सिर्फ़ इतना तय किया कि मण्टो की यह बात ग़लत साबित कर दूँ कि
मुझे पौने पाँच सौ से कौड़ी ज़्यादा नहीं मिल सकती।

पहले मैंने यह सोचा था कि सौ ज़्यादा माँगूं, लेकिन मेरे स्वभाव का यह
दोष है कि मुंह से बात निकाल कर मैं उससे पलटता नहीं। उसमें मण्टो के अड़
जाने या बात टूट जाने की सम्भावना थी। सो मैंने एक रफ़ हिसाब बनाया और
मुकर्जी से कहा कि मण्टो ने डी० ए० वग़ैरा मिला कर पौने पाँच सौ देने की बात
कही है। मैं वहाँ साढ़े तीन सौ पाता हूँ और पक्की नौकरी है; लेकिन बम्बई में
ज़्यादा मँहगाई है, मुझे कम-से-कम सात सौ मिलने चाहिएँ, लेकिन मैंने हिसाब
लगा कर देखा है अभी पाँच सौ भी मिल जायेंगे तो मेरा काम चल जायगा फिर
मेरा काम देख कर आप बढ़ा दीजिएगा।

सोचा मैंने यह कि जिन लोगों ने मुझे सेकिण्ड का किराया दे कर इतनी दूर
से बुलाया है, वे केवल पच्चीस रुपये के लिए मुझे न छोड़ेंगे।

और मैंने ठीक सोचा था। मुकर्जी ने सिर्फ़ इतना कहा — "ठीक है, जाइए
साइन कर दीजिए।"

दूसरी बात यह कि जिस दिन मैंने अनुबन्ध पर हस्ताक्षर किये, उसी दिन
अपना त्यागपत्र 'सैनिक समाचार' दिल्ली के दफ़्तर भेज दिया था, क्योंकि दोनों
जगहों से तनख्वाह लेना नैतिक रूप से ग़लत होता।

लेकिन यह बात मैंने किसी को बतायी नहीं। जैसे नीतिन बाबू से ब्लफ़ मार दिया, वैसे ही दफ़्तर में कई लोगों से कह रखा था कि मैंने नौकरी नहीं छोड़ी, मन न लगा तो वापस चला जाऊँगा।

हालाँकि यह सावधानी सिर्फ़ इसलिए थी कि अगर नये यूनिट में न बने, या मण्टो तंग करे, या मुझे निकाल दिया जाय, या निकलना पड़े तो मैं बिना शर्मिन्दा हुए वापस जा सकूँ और अंग्रेज़ी मुहावरे की भाषा में मुझे मुँह न छिपाना पड़े।

छठी उँगली की बाधा

यद्यपि नीतिन बोस ने वायदा किया था कि मैं तरक्की के लिए अर्ज़ी दूँगा तो वे मेरा साथ देंगे, लेकिन मैंने तत्काल अर्ज़ी नहीं दी। उस दिन तो बस कैण्टीन में और इधर-उधर दबी ज़बान से (सुनने वालों को 'अपने तक ही रखने की' ताकीद करते हुए) यह बात फैला दी कि यहाँ मेरा खर्च पूरा नहीं होता, जल्द ही मैं अपनी नौकरी पर वापस चला जाऊँगा।

वास्तव में इस बीच मैं फ़िल्मी दुनिया को कुछ-कुछ समझने लगा था। वहाँ ज़बान की कोई कीमत नहीं, न वचन का कोई मोल है। चूँकि नीतिन बाबू का ज़िक्र है, मुझे उन्हीं से या देवी चटर्जी से सुने एक किस्से की याद आती है।

(मैंने यह किस्सा नीतिन बाबू के बारे में सुना था, पर यह किसी भी फ़िल्म डायरेक्टर के बारे में पूरी सचाई से सुनाया जा सकता है, फिर वह ख्वाजा अहमद अब्बास, अली सरदार जाफ़री, राजेन्द्र सिंह बेदी ही क्यों न हों।)

नीतिन बाबू की नयी पिक्चर शुरू होने वाली थी। तभी एक युवक उनके एक मित्र की चिट्ठी ले कर आया कि पत्र-वाहक लम्बा-तगड़ा, खुशपोश नौजवान है, उनका निकट सम्बन्धी है, उसे अभिनय का शौक है और वह एमेचर रंगमंच पर कई बार पुरस्कृत हो चुका है। यदि वे उसे हीरो या साइड हीरो का रोल दे सकें तो वे बहुत आभारी होंगे। नीतिन बाबू ने पत्र पढ़ कर सामने उत्सुक खड़े नौजवान पर दृष्टि डाली। वह सुन्दर था, हृष्ट-पुष्ट भी था, पर उसके चेहरे पर अकथनीय-सा कुछ ऐसा था कि उस एक नज़र में उन्हें विश्वास हो गया कि वह और चाहे जो बन जाय, अभिनेता सात जन्म में नहीं बन सकता। लेकिन वे उसे कैसे साफ़ जवाब देते।

तभी उनकी दृष्टि उसके दायें हाथ पर गयी, जो उसकी दायीं जाँघ के साथ लगा-लगा काँप रहा था। उस हाथ में पाँच के बजाय छै उँगलियाँ थीं और छठी उँगली छिगुली के साथ बेजान-सी लटकती काँप रही थी। तब उन्होंने निःसंकोच

कहा : "मैं तो आपको इसी पिक्चर में लेता, लेकिन आपके दायें हाथ में एक निर्जीव-सी छठी उँगली है। छठी उँगली वाला हीरो तो किसी को नहीं सुहाता।"

कुछ ऐसी ही बात उन्होंने कही। युवक ने उन्हें विश्वास दिलाया कि वह उसी वक्त जा कर छठी उँगली कटवा देगा।

लेकिन उन्होंने कहा कि नहीं, वह इतनी जल्दी न करे। घाव होगा, सो पट्टी बाँधनी पड़ेगी और यहाँ आज-कल में 'महूरत' हो जायगा। वह धीरज रखे। वे अगली फ़िल्म में निश्चय ही उसका खयाल रखेंगे।

और जब उनकी दूसरी फ़िल्म घोषित हुई और वह अपनी छठी उँगली कटवा कर पहुँचा तो बिना क्षण भर रुके उन्होंने कहा कि वे लगातार उसके बारे में सोच रहे थे, पर उसका पता उनके एसिस्टेण्ट से कहीं गुम हो गया। मजबूर हो कर सुबह ही उन्होंने दिलीप कुमार के साथ अनुबन्ध कर लिया है।

खतरनाक आदमी

सो मैं उचित अवसर की प्रतीक्षा में अथवा यों कहूँ कि उचित अवसर पैदा करने की तैयारी में उस वक्त चुप हो गया। पर चूँकि मुझे लग रहा था कि ये लोग डेढ़ सौ रुपये को हर महीने मेरी जेब में दाखिल होने के सुख से वंचित कर रहे हैं, इसलिए मेरा दिमाग़ उस अन्याय का प्रतिकार करने के सम्बन्ध में बहुत तेज़ी से सोच रहा था।

सबसे पहले तो मैंने जवान हुसैन को कुछ और साधा। वह पतला-सिकुड़ा भला आदमी था। नीतिन दा ने उसे भर्रा दे रखा था कि जल्दी वे उसे किसी पिक्चर का स्वतन्त्र निर्देशन दिलायेंगे और इसी लालच में, जैसा कि मैंने कहा, वह उनका पीर-बावर्ची-भिश्ती-खर बना हुआ था। मैं नहीं समझता, उसे स्क्रिप्ट या निर्देशन की कोई समझ थी। नीतिन बाबू तो बहुत अच्छे कैमरामैन थे, जवाद को कैमरे-ऐमरे का भी कोई ज्ञान नहीं था। बस वह अच्छा प्रोडक्शन-मैन था, लेकिन वह अपनी सादालौही में अपने आपको निर्देशक के पद के लिए सर्वथा योग्य समझता था और उसे पूरा विश्वास था कि उसे जल्द ही स्वतन्त्र निर्देशन का चांस मिलेगा।

मँझला कद; पतला-छरहरा शरीर; साँवला रंग; चेहरा जैसे दोनों ओर से कुछ पिचका हुआ — तिकोना, जिसमें लम्बी नाक काफ़ी नुमायाँ थी। उसका सरापा आकर्षण-रहित था। लेकिन नीतिन बाबू के यूनिट में उसका बहुत महत्व था।

मैं शुरू से ही इस बात का खयाल रखता था कि जब सम्वाद* लिखता तो

जवाद हुसैन को दिखा लेता । वह उर्दू-दाँ तो था, पर उसे भाषा अथवा अभिव्यक्ति का कोई ज्ञान नहीं था । उसने कभी कोई अच्छा सुझाव नहीं दिया । वह बस सुन लेता था, पास कर देता था, इसी से उसके अहम को सन्तोष मिल जाता था और अभिनेताओं के सन्दर्भ में मेरा काम आसान हो जाता था ।

नासिर हुसैन से झोड़ के बाद मैं 'मज़दूर' में कोई भूमिका लेने की सोच रहा था, जब मैंने अपनी तनख्वाह के प्रसंग में साढ़े छै सौ की बात सुनी । प्रकट ही मुझे बुरा लगा । मैंने तय कर लिया कि जैसे भी हो, मैं एक भूमिका ज़रूर लूँगा । एक बार कण्टीन्यूटी में आ जाऊँ, फिर वापस जाने की बात करूँगा और तब डेढ़ सौ रुपये की छोटी-सी रकम के लिए कोई मुझे जाने नहीं देगा ।

सो दो-तीन बार मैं सम्वाद लिख कर बान्द्रा में जवाद के घर ले गया । एक बार बातों-बातों में उसने क्यूटीकुरा की प्रशंसा की थी कि वह पाउडर उसे पसन्द है । सो मैंने दादर मार्केट से चार डिब्बे क्यूटीकुरा पाउडर के ख़रीद कर उसे पहुँचा दिये और जब वह एकदम मोम हो गया तो मैंने मन की बात कही कि मुझे तनख्वाह कुछ कम पड़ती है, यदि कोई रोल मुझे दिलवा दो तो कुछ अतिरिक्त रुपया मिल जाय ।

"कम्पनी में दूसरे मुलाज़िम जब भूमिकाएँ करते हैं तो उन्हें पच्चीस रुपये रोज़ मिलते हैं," मैंने कहा, "इतना भी मुझे मिल जायगा तो थोड़ा हाथ खुल जायगा ।"

तब यह तय हुआ कि मैं लड़के के पिता की भूमिका में उतरूँ । चूँकि पिक्चर उसी सीन से शुरू होती थी, जहाँ लड़की के पिता लड़के की सगाई तय करने आते हैं, सो मैंने भगवती प्रसाद वाजपेयी का नाम सुझाया और एक दिन के रोल के लिए उन्हें सौ रुपये पर तैयार कर लाया और जवाद हुसैन ने नीतिन बाबू से बात करके हमें वे रोल दिला दिये । मेरा नाम अभिनेताओं की सूची में चढ़ गया । शूटिंग हो या न हो, जिस दिन मेरा मेकप होता, उस दिन पच्चीस रुपये मेरे खाते में चढ़ जाते ।....एक दिन यूँ ही मुकर्जी को प्रसन्न देख कर मैंने उनके कान में यह बात डाल भी दी कि नीतिन बाबू मुझे एक रोल दे रहे हैं । मैं तो सम्वाद-लेखक हूँ, भूमिका करूँगा तो आप लोग जो भी कम-से-कम देते हों, मुझे मिलना चाहिए ।

कण्टिन्यूटी में आ गया, मेरा अभिनय नीतिन बाबू को पसन्द आ गया तो मैंने देवी चटर्जी को सिद्ध किया । वे साहित्य प्रेमी प्रगतिशील लेखक । उनको मैंने अपनी कुछ कहानियाँ सुनायीं । दो का उन्होंने अंग्रेज़ी में अनुवाद कर दिया (जो आज तक उनके हाथ का लिखा मेरी फ़ाइलों में पड़ा है ।) उनके 'न' 'न' करने पर भी उनको मैंने पचास रुपये दे दिये । तब उनको भी मैंने राज़ का साझीदार बनाया । वे तो यों भी साम्यवादी, प्रगतिशील लेखक थे । किसी लेखक

को कम मिले, यह उन्हें क्यों स्वीकार होता । उन्होंने कहा, "आप ज़रूर अर्ज़ी दीजिए, मैं नीतिन दा से कहूँगा ।"

उन दोनों को सिद्ध करके मैंने एक दिन देवी बाबू के सामने ही नीतिन बोस से कहा कि आपने एक दिन कहा था, मैं डेढ़ सौ की तरक्की के लिए अर्ज़ी दूँ तो आप मेरा समर्थन करेंगे; सो मैं अर्ज़ी देना चाहता हूँ, क्योंकि मेरी तरक्की नहीं होगी तो मैं कर्ज़दार होता चला जाऊँगा और यहाँ रहना मुश्किल हो जायगा, आप ज़रा मुझे बतायें कि लिखूँ क्या ।

इससे पहले कि नीतिन बाबू कुछ कहते, देवी चटर्जी ने अंग्रेज़ी में कहा कि आप लिखिए मुझे रुपया कम पड़ता है, यदि मुझे आप कम-से-कम डेढ़ सौ और दें तो मैं रह सकता हूँ, वरना मुझे वापस जाने की इजाज़त दीजिए । और उन्होंने समर्थन में नीतिन बाबू की ओर देख कर पूछा – "क्यों नीतिन दा !"

नीतिन बाबू ने सुझाया कि देखिए, साल के अन्त में आपको पचास रुपये की उन्नति तो वैसे ही मिलती है । आप सौ की माँग कीजिए ।

मैंने कहा, "जैसे आप कहें ।" और उन्हीं के सामने देवी से कहा, "देवी बाबू, आप ज़रा आवेदन देने में मेरी सहायता कीजिए ।"

और देवी चटर्जी की मदद से मैंने अंग्रेज़ी में एक बहुत लम्बा आवेदन-पत्र लिखा, जिसमें अपने घर के ख़र्च का सारा ब्योरा दिया और कहा कि पाँच सौ मुझे कम पड़ते हैं, मुझे मौलिक वेतन में सौ की पेशगी तरक्की की जाय, वरना मुझे अनुबन्ध-मुक्त कर दिया जाय तो मैं आभार मानूँगा ।

आवेदन में मैंने यह भी लिखा कि मैं न केवल सम्वाद लिखता हूँ, वरन सम्वाद-निर्देशन भी करता हूँ, जिसके लिए कम्पनी में हमेशा से अलग आदमी रहता आया है । नायिका मराठी है और उप-नायिका पारसी । उनको उर्दू के सम्वाद याद कराना और शुद्ध उच्चारण से उनकी अदायगी सिखाना बहुत ही कष्ट-साध्य है । आप फ़िल्म के रशिज़ देखिए तो आप जान जायेंगे कि सम्वादों में उन दोनों ने एक भी ग़लती नहीं की ।

और अन्त में लिखा कि कृपया, नीतिन बाबू से मेरे काम का जायज़ा लिया जाय और मुझे सौ रुपये की तत्काल तरक्की दी जाय – उन पचास के अलावा जो साल के बाद मुझे ज़्यादा मिलेंगे ।

०

अर्ज़ी लिख कर मैं रायबहादुर चूनीलाल के दफ़्तर में गया और ज़बानी अपनी बात कहते हुए, मैं उन्हें आवेदन-पत्र दे आया ।

जब सात-दस दिन किसी ने सुन-गुन नहीं ली तो मैं फिर राय बहादुर से मिला । उन्होंने बताया कि मेरी अर्ज़ी कण्ट्रोलर ऑफ़ प्रोडक्शन्ज़ बाने मुकर्जी

को दी गयी है और वे ही उसका निपटारा कर सकते हैं। अच्छा हो, अगर मैं उनसे मिल लूं।

मुकर्जी उस दिन आये नहीं थे। वे नसीम बानो के यहाँ गये हुए थे। मैं वहाँ पहुँचा और मैंने चिट लिख कर भेजी कि दो मिनट उनसे बात करना चाहता हूँ।

वे बाहर आ गये तो मैंने उनसे पूछा कि मेरी अर्ज़ी का उन्होंने कुछ फ़ैसला किया है या नहीं। और मैंने ब्लफ़ मारा कि मेरी पत्नी को पी० आर० डी० दिल्ली से एक मित्र की चिट्ठी आयी है कि लोग हम दोनों की प्रतीक्षा कर रहे हैं।.... और मैंने कहा, "वहाँ तीन सौ वह पाती है, साढ़े तीन सौ मैं पाता हूँ। यहाँ वह तो नौकरी कर नहीं सकती और मेरी तनख्वाह में काम नहीं चलता।"

मुकर्जी क्षण भर चुपचाप मेरी आँखों में देखते रहे। उनकी निगाहें जैसे नुकीले भाले थे, जो मेरे आर-पार हो रहे थे। पहले सोचा आँखें झुका लूं। फिर जाने क्या मन में आयी कि मैं भी अनझिप उनसे आँखें मिलाये रहा।

तब उन्होंने आँखें फिरा लीं और बोले, "मण्टो कहता था – यू आर अ डेंजरस पर्सन....एण्ड ही वाज़ राइट।"[1]

मैंने कहा – "आय मे बी अ डेंजरस पर्सन, बट आय ऐम वेरी हार्डवर्किंग, एण्ड ऑनेस्ट[2]!"

उन्होंने कहा, "जाइए, आपको तरक्की मिल जायगी।"

* *

---

१ मण्टो कहता था – आप ख़तरनाक आदमी हैं और वह सच कहता था।
२ मैं ख़तरनाक भले होऊँ, पर बहुत मेहनती और दयानतदार हूँ।

परिधि पर घूमने वाले

'मज़दूर' बॉक्स ऑफ़िस पर तो हिट नहीं हुई, लेकिन उसके सम्वाद १९४५ के बेहतरीन सम्वाद समझे गये और मुकर्जी ने मुझे निर्देशक बी० मित्रा की फ़िल्म 'सफ़र' के सम्वाद लिखने के लिए कहा। कमरा मेरा वही रहा। नीतिन बोस और जवाद हुसैन की जगह अब उसमें निर्देशक बी० मित्रा और गुबले-गुबले चेहरे और शक्ल से नितान्त मूर्ख दीखने वाला एक बंगाली भावुक युवक असिस्टेण्ट – बोस – आने लगा।

इससे पहले कि मैं 'सफ़र' के ज़माने की कुछ दिलचस्प झलकियाँ दूँ, मैं फ़िल्मिस्तान स्टूडियो की परिधि पर घूमने वाले कुछ ऐसे लोगों का ज़िक्र करना चाहूँगा, जो मुझे फ़िल्मिस्तान के शरीर पर निरर्थक अंगों ऐसे लगते थे। उन्हें बाकायदा तनख्वाह मिलती थी, लेकिन वे कोई काम न करते थे, या कहा जाय कि उनकी परम इच्छा के बावजूद उनसे कोई काम न लिया जाता था।

गोपाल सिंह नेपाली

सबसे पहले मेरे ज़ेहन में गोपाल सिंह नेपाली का नाम आता है। वे भावनापूर्ण, जोशीले गीत लिखते थे। फ़िल्मिस्तान में मेरे पहुँचने के कुछ पहले किसी कवि सम्मेलन में बम्बई आये थे। उस ज़माने में उनके गीत बहुत लोकप्रिय थे और वे कवि-सम्मेलनों में खूब जमते थे। बम्बई में उन्होंने अपना गीत 'चेतना नवीन तुम्हें प्रेरणा नवीन दूँ' (कुछ ऐसा ही मुखड़ा था उसका) गाया तो मुकर्जी को बहुत पसन्द आया। उन्होंने नेपाली से स्टूडियो में मिलने को कहा। वे मिले तो मुकर्जी ने तत्काल उन्हें पाँच सौ रुपये महीने पर मुलाज़िम रख लिया।

नेपाली रोज़ सुबह आते, हाज़िरी देते, स्टूडियो की वाटिका में घूमते, कैण्टीन में चाय अथवा लंच लेते, कुछ समय पिंग-पांग खेलते और शाम को वापस चले जाते। जब कोई आदमी काम करने की पूरी क्षमता रखता हो, इच्छा रखता हो, दयानतदार और सम्वेदनशील हो, उसे माह-ब-माह वेतन तो दिया जाय, लेकिन उससे किसी तरह का काम न लिया जाय तो इससे जिस तरह की कुण्ठा पैदा हो सकती है, नेपाली उन दिनों उसकी मूर्ति थे।

एक दिन पिंग-पांग के बाद हम कैण्टीन को वापस आये तो उन्होंने मेरे भाग्य को सराहा, जिसे आते ही काम मिल गया था, जबकि वे कई महीनों से बेकार रोज़ आते थे और नाकाम वापस जाते थे।

"तुम मुकर्जी से क्यों नहीं कहते ?" मैंने साश्चर्य पूछा।

"मैंने दो-तीन बार उन से कहा है," नेपाली ने बताया, "लेकिन वो कहते हैं – आप नये-पुराने फ़िल्मी गीत स्टडी कीजिए, कोई नया लिखिए तो सुनाइए !"

"फिर ?"

"मैं ग्रामोफ़ोन ले आया ! जाने मैंने कितनी फ़िल्मों के गीत सुने, लेकिन जब-जब मैंने नये गीत लिख कर मुकर्जी को सुनाये, उन्होंने कहा – ये सब साहित्यिक गीत नहीं चलेंगे। कोई नया भाव, कोई नयी तर्ज़ लिखिए ! सो अब मैंने जाना छोड़ दिया। साल भर का कॉण्ट्रेक्ट खत्म हो जाय तो मैं वापस चला जाऊँगा।"

"मैं तुम्हारी जगह होता तो एकाध बार ही कोशिश करता," मैंने कहा, "मुकर्जी सनद न देते तो अपना कमरा बन्द करके मज़े से अपना उपन्यास या कहानियाँ लिखता। और हफ़्ते-पखवाड़े सामने मिलने पर कहता कि हुज़ूर कोई काम नहीं, कलम को जंग लग रहा है।"

"लग गया है," नेपाली दर्द से हँसे, "न जाने क्या हो गया है, किसी चीज़ में मन ही नहीं लगता। एक भी नया गीत मैंने इतने महीनों में नहीं लिखा।"

नेपाली मलाड ही में रहते थे। पहले घोड़बन्दर रोड पर बर-लबे-सड़क एक मकान के पहले माले पर दो कमरे उनके पास थे। फिर शायद वे एक बँगले के निचले हिस्से में उठ गये थे। शुरू के दिनों की बात है। मैं एक इतवार उनके फ़्लैट पर गया। वे ग्रामोफ़ोन रखे, रिकॉर्ड सुन रहे थे। उस दिन उन्होंने मुझे पिछले पाँच-सात वर्षों में लोकप्रिय होने वाली फ़िल्मों की ट्यूनें सुनायीं और यह भी बताया कि एक पुरानी लोकप्रिय ट्यून कैसे नये-नये रूप धर कर फिर-फिर पापुलर हुई।

मुझे अच्छी तरह याद है, उन्होंने एक गीत सुनवाया था, जो शान्ताराम की फ़िल्म 'आदमी' में पहली बार गाया गया था। उसमें रेस्तराँ का छोकरा रेस्तराँ से चाय के पाँच-छै प्याले-प्लेट एक-दूसरे पर रखे एक बिल्डिंग की सीढ़ियाँ चढ़ता हुआ वही गाना गाता है, जो अपनी ट्यून की वजह से हिट हो गया था। मुझे वह गाना भी भूल गया है, लेकिन गाँधी टोपी, कमीज़ और निक्कर पहने, तीखे नाक-नक्शे वाले गोरे छोकरे की याद आज भी शेष है, जो प्यालों का पिरामिड लिये गाना गाते हुए सीढ़ियाँ चढ़ता है। मुझे यह भी याद है कि वह बड़ी दक्षता से ऊपर से आने और बग़ल से ऊपर जाने वालों से बचता-बचाता सीढ़ियाँ चढ़ गया था। दो-एक बार लगा था कि उसके हाथ में थमा प्यालों का वह पिरामिड गिर जायगा, पर उसका शरीर इतना सधा और लचकीला था और इधर-उधर आगे-पीछे इतना झुक सकता था कि हर बार वह प्यालों को गिरने से बचा लेता था। और उसकी तमाम भंगिमाएँ ट्यून में बँधी थीं। गीत की ट्यून में अद्भुत गति थी और वह बहुत लोकप्रिय हुआ था।

नेपाली ने इसी गीत की धुन पर दो-दो, चार-चार वर्षों के अन्तराल से लिखे जाने वाले और पुनः-पुनः सफल होने वाले गीत सुनाये।

मैं नेपाली को कवि-सम्मेलनी लोकप्रिय गीतकार समझता था। उनके गीतों में भावना का बाहुल्य होता था। स्वर उनका सधा और लोच-भरा था, साथ ही उसमें कुछ ऐसी घन गरज और गहराई थी कि जब वे कवि-सम्मेलनों में सस्वर पाठ करते थे तो हमेशा समाँ बाँध देते थे। मुझे याद है, अपना एक सद्यः-प्रकाशित काव्य-संग्रह भेंट करते हुए उन्होंने मुझे एक कविता भी सुनायी थी – 'देख रहे हैं महल तमाशा'। कविता बहुत लम्बी थी। भावुकता-भरी थी। मुझे आज भी उसका एक बन्द याद है – क्यों याद रह गया है, इसका कोई कारण नहीं बता सकता। बहुत अच्छा तो नहीं है, लेकिन उस समय की उनकी काव्य-शैली को तो दर्शाता ही है :

तत्व यही है, इस जीवन में
जीवन का अभिशाप गुलामी
बड़े-बड़े सुख हों, हों, लेकिन
एक घोर सन्ताप गुलामी

फिर चाहे वह बुरो ग़ुलामी
मन की हो या जीवन की हो
है ग़ुलाम पापी दुनिया में
दुनिया में है पाप ग़ुलामी

वैसे भावुक कवि को किसी वैज्ञानिक की तरह फ़िल्मी गीतों पर शोध कर, प्रचलित और लोकप्रिय ट्यूनें छाँटते देख, मैं चमत्कृत हुआ था। मैंने इस बात पर अफ़सोस प्रकट किया था कि इतने मेहनती और सक्षम गीतकार को मुकर्जी यों ही बैठाले हुए हैं और मैंने नेपाली से वायदा किया था कि मुकर्जी का मूड देख कर मैं उनसे ज़रूर बात करूँगा।

०

'मज़दूर' की शूटिंग के दिनों में तो अवसर नहीं मिला कि मुकर्जी से बात करूँ क्योंकि एक बार शूटिंग शुरू कर, नीतिन बाबू तीन-चार महीने में पिक्चर ख़त्म कर देना चाहते थे और लगातार शूटिंग होती थी। मुझे सम्वाद भी लिखने पड़ते थे और सम्वाद-निर्देशन के लिए सेट पर भी रहना पड़ता था।

लेकिन 'मज़दूर' ख़त्म हो गयी और 'सफ़र' की तैयारी होने लगी तो सहसा अवसर मिल गया। मुकर्जी चाहे मुझसे बहुत नाराज़ हो गये, लेकिन नेपाली को मैंने फ़िट कर दिया।

०

शायद इतवार था और मैं अभी नहा-धोकर नाश्ता ही कर रहा था कि रामाराव बँगला, मलाड में (जहाँ मैं ऊपर के माले में निवास करता था) सहसा मुकर्जी की कार आ कर रुकी। ड्राइवर से मालूम हुआ कि मुकर्जी साहब ने मुझे नसीम बानो के बँगले पर बुलाया है।

'नसीम बानो के बँगले पर मुझे काहे को बुलाया है?' मैंने मन-ही-मन सोचा। फिर खयाल आया, 'शायद पैसे दिलाने के लिए बुलाया हो।'

बात यह है, कुछ दिन पहले उन्होंने कहा था, वे एहसान साहब के लिए एक पिक्चर बना रहे हैं और पूछा था कि मैं उसके लिए एक ग़ज़ल लिख सकता हूँ? (मैं उन्हें कई बार अपनी ग़ज़लें सुना चुका था। उनकी पत्नी को अपने दो काव्य-संग्रह भेंट कर आया था और वे जानते थे कि कथाकार के अलावा मैं कवि भी हूँ।) मैंने कहा था, लिख दूँगा। शायद जुदाई के दर्द से भरी कोई सिचुएशन थी, जिसमें नायिका भरे गले से ग़ज़ल गाती थी। मैं दूसरे दिन ग़ज़ल लिख कर ले गया। उन्हें सुनायी। उन्होंने पसन्द की और मुझसे ग़ज़ल वाला काग़ज़ ले कर जेब में रख लिया और कहा कि एहसान को दिखायेंगे। कुछ दिन बाद फिर एक शाम मैंने पूछा, "क्या एहसान साहब को वह ग़ज़ल पसन्द आयी?"

उन्होंने स्वीकार में सिर हिलाया।

तब मैंने कहा, "तो मुझे उसके सौ रुपये दिलवा दीजिए!"

मुकर्जी ने मेरी ओर ऐसे देखा, जैसे मैंने कोई निहायत ही बेजा बात कह दी हो। लेकिन कहा उन्होंने कुछ नहीं।

कार में नसीम के बँगले को जाते हुए, मैं यही सोच रहा था, शायद उन्होंने ग़ज़ल में कोई शे'र बदलने को बुलवाया है। हो सकता है, रुपया ही दिलवाने को बुलवाया हो।

नसीम का बँगला मलाड ही में घोड़बन्दर रोड पर था। अपने औत्सुक्य को मन ही में छिपाये मैं वहाँ पहुँचा। मुकर्जी बड़े तपाक से मिले। अन्दर ड्राइंग-रूम में जाजम पर हार्मोनियम रखे, धोती-कुर्ता, बन्द गले का कोट और सिर पर मारवाड़ियों सी पगड़ी बाँधे, एक साहब बैठे थे। मुकर्जी ने उनका परिचय दिया कि ये प्रसिद्ध संगीत निर्देशक अमर जी हैं (नाम मैं भूल रहा हूँ। उन दिनों उनकी कुछ ट्यूनें ख़ूब हिट हुई थीं।)

तभी अंग्रेज़ी जार्जेट की सर्दई साड़ी पहने, धुली-निखरी शर्माती-मुस्कराती नसीम भी ड्राइंग-रूम में आ गयी।

मुकर्जी ने संगीत निर्देशक की ओर संकेत करते हुए मुझसे कहा कि इन्होंने एक बहुत बढ़िया ट्यून बनायी है। हमें पसन्द है। आप बैठिए। नसीम आपको सिचुएशन बता देगी और आप ट्यून पर बोल फ़िट कर दीजिए।

मैंने कहा, "बहुत अच्छा।"

तब उन्होंने नसीम से कहा कि वे थक गये हैं। अभी कार से मैथारॉन जायेंगे। सम्भव हुआ तो शाम तक आ जायेंगे और वे मेरे साथ बैठ कर गीत लिखवा लें।

तब मैंने पूछा कि गीत को पास कौन करेगा।

"नसीम हैं, म्यूज़िक डायरेक्टर हैं...."

और मुकर्जी चले गये।

नसीम ने मुझे सिचुएशन समझा दी। दिन भर मैं संगीत निर्देशक और उसके साथ बैठा, प्रसंग के अनुसार धुन पर गीत के बोल फ़िट करता रहा। शाम होते-होते काफ़ी सुन्दर गीत लिखा गया। संगीत निर्देशक ने हार्मोनियम थामा। नसीम गाने लगी। समाँ बँध गया। दोनों बहुत सन्तुष्ट हुए।

शाम हो गयी थी। साढ़े चार-पाँच का समय होगा कि मुकर्जी आ गये।

आते ही उन्होंने गीत सुनाने की फ़रमाइश की।

अब यह मुझे याद नहीं कि संगीत निर्देशक और नसीम ने बाक़ायदा ट्यून के साथ गा कर मुकर्जी को गीत सुनाया, या अपने उत्साह में मैंने ही उन्हें बिना गाये पढ़ कर सुनाया, क्योंकि गा तो मैं सकता नहीं था, मुझे बस इतना याद है

कि मुकर्जी ने दो-चार ही बोल सुने होंगे कि वे फट पड़े – "बकवास, नॉनसेंस, ईडियॉटिक, वाहियात !"

जाने उस गीत की शान में मुकर्जी ने कितने चुनिन्दा अंग्रेज़ी-उर्दू-हिन्दी के प्रशंसात्मक शब्द एक ही साँस में गिना डाले और मुझे आदेश दिया कि मैं उसे दोबारा लिखूं और बेहतर लिख कर दिखाऊँ।

क्षण भर में हतप्रभ-सा खड़ा रहा। न नसीम के मुँह से बोल फूटा, न उस महान मारवाड़ी लाला-जैसे संगीत निर्देशक के मुँह से। मुझे बहुत गुस्सा आया। लेकिन अपने आप पर संयम रख कर मैंने कहा, "मुकर्जी साहब जरा एक मिनट को मेरी बात सुनिए।"

वे बाहर निकले तो मैं उन्हें ज़रा परे बग़ीचे में ले गया और मैंने कहा, "मुकर्जी साहब, मैं इस तरह काम करने का आदी नहीं हूँ। मैंने आपसे पहले ही पूछा था कि गीत पास कौन करेगा ? आप ने कहा था – नसीम और म्यूज़िक डायरेक्टर। लेकिन उन दोनों को तो पसन्द आ गया है। आपने कहा होता, 'मैं पसन्द करूँगा', तो मैं आपके मुँह से सिचुएशन सुनता, गीत का भाव पूछता, उसका हल्कापन या गहराई आपसे डिस्कस करता, फिर लिखता और चाहे मुझे दस बार लिखना पड़ता, मैं पीछे न हटता। अब यह गीत मैं दोबारा नहीं लिख सकता। इतनी मेहनत के सौ रुपये होते हैं। आप फिर लिखने को कहते हैं, आप मुझे पेशगी एक हज़ार रुपया दिलवा दीजिए। आप दस बार कहिए, मैं दस बार लिखूंगा। बीस बार कहिए, बीस बार लिखूंगा।"

मुकर्जी चुप मेरी तरफ़ देखते रहे। उन्हें अपने कानों पर विश्वास न आया होगा। कहाँ तो लोग ऐसे सुयोग के लिए तरसते थे और कहाँ मेरे जैसा मूढ़ था, जो उसका लाभ उठाने को तैयार न था।

इससे पहले कि मैं उन्हें थोड़ा हैरान और खीझा हुआ छोड़ कर गेट की ओर बढ़ता, मैंने कहा, "मैं तो इस तरह नहीं लिख सकता, पर मैं आपको आप ही के एक मुलाज़िम का नाम बता सकता हूँ, जो बहुत अच्छा गीतकार है और चाहे उसे दस छोड़ बीस बार लिखना पड़े, वह आपको सन्तुष्ट कर सकता है।"

मुकर्जी ने आँख उठा कर सिर के इशारे से पूछा – "कौन ?"

मैंने कहा, "नेपाली !"

"डू यू थिंक सो ?" उन्होंने अंग्रेज़ी में पूछा।

"मैं मानता भी हूँ और जानता भी हूँ।" मैंने भी अंग्रेज़ी में कहा, "आप उन्हें पाँच सौ देते हैं और कोई काम नहीं लेते, जब कि वे शत-प्रतिशत इस काम के उपयुक्त हैं।"

और मैंने मुकर्जी को बताया कि कैसे नेपाली ने पांच-पांच वर्ष पुराने रेकार्ड खरीद रखे हैं और वे रोज़ लोकप्रिय धुनों के रेकार्ड सुनते हैं। और मैंने उन्हें यकीन दिलाया कि नेपाली उन्हें सन्तुष्ट कर देंगे।

"अच्छा, आप जाते-जाते उन्हें भेजते जाइए।" मुकर्जी ने कहा और वापस बंगले के अन्दर चले गये।

०

मैं भारी कदमों से गेट के बाहर निकला। मेरे मन में आयी थी, कहूँ, 'ज़रा ड्राइवर से कहिए मुझे घर पहुँचा दे।'

लेकिन जब उन्हें अपने क्रोध में उस शिष्टाचार की बात याद नहीं आयी तो मैं ही क्यों कराता। (वे तो खैर फ़िल्म वाले थे, जिनका न कोई नियम होता है, न सिद्धान्त, न पीर, न मज़हब। मैंने दिल्ली के तीन-तीन बड़े प्रकाशकों को, जिनमें से दो तो अपने आपको प्रोग्रेसिव कहलाते हैं, लगभग ऐसी ही हरकत करते देखा है। यही नहीं, काम निकल जाने या न होने पर अपने एक धनी लेखक-मित्र तक को मैंने तमाम शिष्टाचार भूल जाते देखा है।)

मैं तो प्रायः शाम को गोरे गाँव से मलाड तक पैदल आता था। फिर नसीम का बँगला तो मलाड ही में था। मैं पैदल चल पड़ा। रास्ते में नेपाली के यहाँ रुक गया। मैंने उसको संकेत रूप में सारा किस्सा सुनाया और कहा, "देखो यार, मैं तो फ़िल्म में जमने आया नहीं, इसलिए न मुझसे मुकर्जी की सनक के अनुसार दोबारा-सहबारा लिखा जा सकता है, न मैं सबको प्रसन्न ही कर सकता हूँ। मुझे फ़िल्मों में रहना नहीं और न ही यह सब करना है, लेकिन तुम फ्रस्ट्रेट कर रहे हो। मैंने मुकर्जी के सामने तुम्हारी भरपूर तारीफ़ की है। मेरी अपेक्षा तुम्हें गीतों और ट्यूनों की समझ भी ज्यादा है। तुम अभी चले जाओ, अगर तुम मुकर्जी के मन-मुताबिक दो-तीन बार लिख कर उनसे गीत पास करा लोगे तो मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ, फ़िल्मी दुनिया में गीतकार के नाते तुम्हारा भविष्य सुनिश्चित हो जायगा। मुकर्जी 'प्रदीप' को नीचा दिखाना चाहते हैं। वे तुम्हें आगे बढ़ा देंगे। अगर 'ताजमहल पिक्चर्ज़' के लिए तुमने गीत लिख दिये तो कौन जाने 'सफ़र' के गीत भी तुम्हीं लिखो।"

मैंने नेपाली को तैयार कर दिया और यह भी समझा दिया कि यदि मुकर्जी बमकें-चिल्लायें तो नेपाली उसे खातिर में न लाये। क्योंकि मुकर्जी जिन पर चिल्लाते हैं, उन्हीं को अपना बनाते हैं।

मैंने ग़लत नहीं कहा था। मुझे शाहिद और दूसरे मित्रों ने मुकर्जी के किरदार के इस पहलू के बारे में कई टिप्स दिये थे, लेकिन उनकी वह बमक और चिल्लाहट मेरे लिए असह्य थी। इस बात का मुझे पूरा विश्वास था कि नेपाली, जो मुझसे पहले फ़िल्मिस्तान में मुलाज़िम हुए थे और लगभग एक साल से फ्रस्ट्रेट कर रहे

थे, वह सब बर्दाश्त कर लेंगे और फ़िल्मी गीतकार के नाते सफल हो जायेंगे। उनके पास स्वर भी था और मेरी अपेक्षा वे अपने गीत बेहतर तौर पर सुना और जमा सकते थे।

मेरा अनुमान ग़लत नहीं था। 'ताजमहल पिक्चर्ज़' के लिए नेपाली ने कौन-से गीत लिखे, मुझे मालूम नहीं, लेकिन मुकर्जी ने 'सफ़र' के लिए उनसे कुछ गीत लिखवाये थे। और जहाँ तक मुझे याद पड़ता है उनका गीत :

हमारी गली आना अच्छा जो
हमें न सताना अच्छा जो

हिट हुआ था और नेपाली फ़िल्मी गीतकार के रूप में चल निकले थे।....जब मैं डेढ़ साल बाद इलाहाबाद आने के लिए पंचगनी से उतरा तो किसी ने मुझे बताया था कि नेपाली को सरसाम हो गया है। मुकर्जी ने उनसे इतना काम लिया था कि उन्हें रात में नींद नहीं आती थी। अन्ततः वे बुरी तरह बीमार हो गये थे।

०

इसके बाद नेपाली से १९६१ में तिनसुकिया (असम) के एक कवि सम्मेलन में मुलाकात हुई थी। पहले से खासे भटक गये थे। उनके चेहरे पर भी वह आब नहीं रही थी। मुझे किसी मित्र ने बताया था कि बहुत पीने लगे हैं।....फिर एक दिन अचानक उनके देहावसान की खबर सुनी थी।

कभी-कभी मुझे खयाल आता है कि अगर मैंने उस शाम उनको नसीम के बँगले न भेजा होता और फ़िल्मिस्तान की बेकारी से कुण्ठित हो कर, अपने इरादे के अनुसार, वे वापस चले जाते तो क्या अच्छा न होता।....

लेकिन इस 'अगर' और 'क्या' का उत्तर किसने दिया है?....बस कभी-कभी अफ़सोस होता है और सिल्क का कुर्ता और पतले किनारे की बढ़िया धोती पहने, पिंग-पांग खेलते हुए उनके चेहरे की चमक आँखों में कौंध जाती है।

रहस्यमयी नीना का पति

दूसरा व्यक्ति, जिसने इस सन्दर्भ में मेरा ध्यान आकर्षित किया, मोहसिन अब्दुल्ला था। छै फ़ुट को पहुँचता कद, हृष्ठ-पुष्ट शरीर, चौड़ा माथा, सानुपातिक नाक, सेंसुअल होंट – वह खूबसूरत आदमी था। उसके बारे में पूछने पर पता चला कि वह कथा विभाग में मुलाज़िम है और 'पुर-असरार नीना' का शौहर है। हो सकता है कि 'चल चल रे नौजवान' अथवा 'शिकारी' के सिलसिले में उसकी नियुक्ति हुई हो, लेकिन मैंने उसे कभी किसी सिचुएशन सम्बन्धी बहस-मुबाहसे में

हिस्सा लेते नहीं देखा। कभी कोई कहानी या सम्वाद डिस्कस करते नहीं देखा। नेपाली की तरह वह भी वक्त से स्टूडियो आता था और घूम-फिर, इसके साथ बैठ, उसके साथ उठ, कैण्टीन में चाय पी, मेकप-रूम में किसी से दो बात कर, चला जाता था। जहाँ तक मुझे याद पड़ता है, उसे चार सौ रुपये माहवार मिलते थे।

रही उसकी बीवी – वह रहस्यमयी नीना – तो वह उसे छोड़ कर 'शालामार स्टूडियो', पूना के मालिक (नाम भूल रहा हूँ, ग़ालिबन जेड अहमद) के साथ रहने चली गयी थी और उस ज़माने में 'शालामार स्टूडियो' की किसी आगामी फ़िल्म के सिलसिले में उसके बहुत शानदार विज्ञापन फ़िल्मी पत्र-पत्रिकाओं में छपते थे।

उसमें क्या रहस्यमय था, यह मैं नहीं जानता, मोहसिन अब्दुल्ला या जेड अहमद ही जानते होंगे। मैंने तब तक उसकी कोई फ़िल्म नहीं देखी, लेकिन बाद में एक कॉमेडी ज़रूर देखी थी, जिसमें नीना होरोइन थी। पंजाबियों की तरह कमीज़-शलवार पहने और गले में दुपट्टा डाले। मुझे तो उसमें कुछ रहस्यमय नहीं लगा था। वह लम्बी-छरहरी, तीखे नाक-नक्शे वाली युवती थी। थोड़ा-सा नसीम-ऐसा ठण्डापन और गरिमा उसमें थी। चुपीती होगी, इसीलिए रहस्य-मयी कहलाती होगी। उसे देख कर मैं सोचता था कि मोहसिन अब्दुल्ला जैसे लम्बे-ऊँचे, तगड़े, खुशबाश, खुशकलाम, सभ्य और सुसंस्कृत आदमी को छोड़ कर वह किसी दूसरे के साथ क्यों चली गयी? दोनों की जोड़ी तो बहुत अच्छी थी। लेकिन मुझे इसका कोई जवाब न मिलता।

तभी 'मज़दूर' की शूटिंग शुरू हो गयी। उसमें, जैसा कि मैंने पहले लिखा एक पारसी लड़की – वीरा – उपनायिका थी। क्योंकि फ़िल्मी ज़िन्दगी में कोई लड़की बहुत दिन अकेली नहीं रहती, इसलिए पहले कुछ दिन उसके साथ एक गुजराती युवक आता था, फिर जाने क्या हुआ वीरा अकेली स्टूडियो आने लगी।

कभी-कभी मैं स्टूडियो से सीधा सैण्डहर्स्ट रोड या चर्चगेट जाता था। उसने दो-एक बार साथ चलने का आमन्त्रण दिया। एक दिन मैं गेटवे ऑफ़ इण्डिया से ज़रा परे 'रेडियो क्लब' जा रहा था। के० एल० सहगल के जन्मदिन की एक पार्टी थी। सहगल के भाई महेन्द्र ने, जो मेरा सहपाठी रहा था, मुझे बुलाया था। स्टूडियो से स्टेशन जाते-जाते जब वीरा को पता चला कि मैं उधर जा रहा हूँ तो उसने कहा, "चलिए, मैं आपको वहाँ छोड़ दूँगी, मेरे रास्ते में पड़ता है।"

फ़र्स्ट क्लास के खाली डिब्बे में उसके साथ मैं चर्च गेट तक गया। वहाँ से टैक्सी पर वह मुझे 'रेडियो क्लब' छोड़ कर आगे चली गयी। यों तो वह रोज़ सेट पर मिलती थी और जैसा कि मैंने कहा, वह बहुत अच्छी अभिनेत्री नहीं थी, लेकिन उस शाम उसके साथ लगभग एक घण्टा बैठने का सुयोग मिला। ज़्यादा बातें तो

नहीं हुई, लेकिन एहसास हुआ कि वह अकेली है और जल्द ही किसी के साथ बँध जायगी।

और जब दो-एक महीने बाद मैंने सुना कि वीरा और मोहसिन अब्दुल्ला की शादी हो गयी तो मुझे हैरत नहीं हुई। देखने में जोड़ी बुरी नहीं थी। लेकिन जोड़ी तो नीना और मोहसिन की भी बुरी नहीं थी। अगर वह उसे छोड़ गयी तो क्या यह न छोड़ जायगी – हठात मैंने सोचा। फिर मन ने कहा – ज़रूरी नहीं कि जिस व्यक्ति को एक औरत छोड़ जाय, उसे दूसरी भी छोड़ जाय। हो सकता है, ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हों और जिन्दगी भर निबाह ले जायँ।

अब जब वीरा सेट पर आती तो मोहसिन हमेशा उसके साथ होता।

एक दिन हम नीतिन बाबू के कमरे में बैठे थे। शायद नीतिन बाबू कहीं गये हुए थे और हम उनका इन्तज़ार कर रहे थे। बम्बई की मई-जून की निहायत वाहियात गरमी पड़ रही थी। जी बेतरह घुट रहा था। वीरा ने प्यास की शिकायत की तो मोहसिन ने हम्माल को दो लेमोनेड लाने के लिए कहा। वीरा ने उसे रोका, पर्स से पाँच का नोट दिया और सबके लिए एक-एक बोतल लाने का आदेश दिया। मैं तो लेमोनेड पीता नहीं था, इसलिए चार ही गिलास आये। दो उनके लिए और दो जवाद हुसेन और देवी चटर्जी के लिए! मोहसिन ने एक घूँट में गिलास ख़ाली कर दिया, लेकिन वीरा कुछ देर सिप करती रही। फिर उसे अच्छा नहीं लगा या उसकी प्यास ही चिड़िया-ऐसी थी, उसने आधे से कुछ कम गिलास मेज़ पर रख दिया। जब कुछ देर तक उसने नहीं पिया तो मोहसिन ने प्यार से पूछा, "क्या और नहीं लोगी?"

वीरा ने इनकार में सिर हिलाया।

"तो मैं पी लेता हूँ। बेकार में क्यों ज़ाया किया जाय।" उसने दबो निगाहों से हमारी ओर देख कर जैसे अपने से कहा, गिलास उठाया और पी गया।

मुझे उसकी यह हरकत बेहद अजीब लगी। खुशामद की एक बहुत ही लतीफ़-सी कोशिश! और तभी मुझे महसूस हुआ कि इस आदमी में बुनियादी तौर पर कोई ख़ासी ख़ामी है और नीना अगर इसके घर में नहीं रही तो ज़रूर कोई कारण होगा और वीरा भी देर-सबेर इसे छोड़ जायगी।

मैंने तभी अपने किसी मित्र से यह बात कही थी। उसने पूछा था कि इतनी छोटी-सी बात से मैंने कैसे अन्दाज़ा कर लिया। मैं उसे कोई ख़ातिरख़्वाह जवाब न दे सका था। लेकिन जब कुछ वर्षों बाद मैं बम्बई गया और मुझे पता चला कि वीरा भी उसे छोड़ गयी तो वह छोटी-सी घटना मेरी आँखों में कौंध गयी।

मेरा ख़याल है – हर समाज के अपने-अपने नियम-कानून होते हैं और हर समाज में मर्द-औरत एक-दूसरे से ख़ास तरह की अपेक्षाएँ रखते हैं। हमारे समाज में, जैसा कि वह तब था और आज भी है, औरत को अपने मर्द से कुछ अतिरिक्त

अपेक्षा रहती है और मोहसिन अब्दुल्ला की उस हरकत में मुझे कुछ औरतपन लगा था, फिर यह भी महसूस हुआ था कि यह आदमी, हो-न-हो, परोपजीवी है। बाद में पता भी चला कि वह रेस का रसिया था और बहुत पैसा बर्बाद करता था। अपनी कमाई तो उड़ाता ही था, बीवी की कमाई भी उड़ाता था, इसीलिए उसे नीना छोड़ गयी थी और कौन जाने वीरा भी उसे इसीलिए छोड़ गयी हो। यह भी हो सकता है कि अपने लम्बे-तगड़े शरीर और सुन्दर चेहरे-मोहरे से वह औरत को आकर्षित तो करता हो, लेकिन अपने किरदार की कुछ ख़ामियों की वजह से उसे बाँधे न रह सकता हो।

लँडूरे घूमते : हिट गीतों के रचयिता

मुझे 'फ़िल्मिस्तान' में कवि प्रदीप को भी देख कर बहुत तकलीफ़ हुई थी। उन दिनों वे भी वहाँ 'परिधि में घूमने वालों' में से थे।

कुछ वर्ष पहले 'बॉम्बे टॉकीज़' में जो फ़िल्में बनी थीं – 'कंगन,' 'बन्धन,' 'नया संसार,' 'किस्मत,' आदि – उनकी सफलता का एक कारण प्रदीप के गीत भी थे। 'बन्धन' का गीत – 'प्राण प्यारे पीहु पीहु बोल' – 'भूला' का – 'मैं दिल्ली से दुल्हन लाया रे' और 'किस्मत' का – 'दूर हटो ऐ दुनिया वालो, हिन्दुस्तान हमारा है' – आम जनता की ज़बान पर चढ़ गये थे। मुझे उन्हीं फ़िल्मों में से किसी एक में भिखारियों द्वारा गाये गये एक और गीत की भी याद आती है, जिसे उन दिनों आम भिखारी गाते फिरते थे। मैं इतना जानता हूँ कि उस ज़माने में जैसे लोग अशोक कुमार और देविका रानी का नाम लेते थे, वैसे ही प्रदीप का भी लेते थे।

लेकिन वही प्रदीप उन दिनों (१९४५-४६ मे) 'फ़िल्मिस्तान' के शरीर पर एक निरर्थक अंग सरीखे हो गये थे।

०

प्रदीप गोरे रंग के पतले-छरहरे, शायद इसी कारण कद की अपेक्षा ज़रा लम्बे दीखने वाले आदमी थे। कन्धे उनके कद्रे झुके लगते थे। सफ़ेद रंग का कीमती लिबास पहनते थे – धोती, कमीज़ और खुले गले वाला, ज़रा लम्बा कोट! मैं नहीं जानता, उन्होंने मेरी कोई रचना पढ़ी थी या नहीं अथवा वे मुझे जानते थे या नहीं, लेकिन मैं उन्हें जानता था।

१९३३ में जब मैं कविराज हरनामदास के साथ शिमला गया था, वहाँ एक शाम कविराज के सरपरस्त और गवर्नर की कौंसिल तत्कालीन सदस्य सर गोकुलचन्द नारंग की कोठी पर एक साहित्यिक गोष्ठी हुई थी। पहली बार

मैंने प्रदीप को वहीं देखा था। उन्होंने अपने अत्यन्त लोच-भरे सुरीले स्वर से दो गीत भी सुनाये थे। मुझे आज भी उनका चेहरा, इन चालीस-पैंतालीस वर्षों के बाद नहीं भूला और न उनके सुरीले गले की स्मृति। तब उस गोष्ठी के बाद कवि प्रदीप के भविष्य को ले कर वहाँ बड़ी-बड़ी भविष्यवाणियाँ की गयी थीं। कवि प्रदीप द्वारा पन्त और महादेवी को पीछे छोड़ जाने की बात भी हुई थी। लेकिन कुछ वर्ष बाद सुना कि वे फ़िल्मों में चले गये। वहाँ वे ऐसे रमे और जमे कि साहित्यिक ख्याति उन्हें भले न मिली हो, पर उनके गीत घर-घर गूँजने लगे।

मैंने 'फ़िल्मिस्तान' में कवि प्रदीप को एक दिन परेरा के कमरे में देखा। जाने किस बात पर वे उनसे कुछ बहस कर रहे थे। मैंने उन्हें 'नमस्कार' किया। उन्होंने 'नमस्कार' का उत्तर तो दिया, पर चूँकि उनकी आँखों में पहचान नहीं थी और फिर वे कम्पनी के सेक्रेट्री से बात कर रहे थे, इसलिए मैं चला आया। इसके बाद वे कई बार बाग़ीचे को सड़क पर अथवा श्री बर्मन के म्यूज़िक रूम में मिले, लेकिन हममें कभी नमस्कार अथवा किसी अन्य बात का आदान-प्रदान नहीं हुआ। 'फ़िल्मिस्तान' में अपनी लँडूरी हैसियत का उन्हें अभी पूरी तरह एहसास नहीं हुआ था और वे अपने महान गीतकार को लिये रहते थे। यह भी हो सकता है कि उन्हें अपनी स्थिति का एहसास हो और इसी कारण वे लोगों से मुँह चुराते हों।

लेकिन मण्टो ने मुझे उनकी स्थिति के बारे में विस्तार से बता दिया था। बात वास्तव में यह थी कि हिमांशु राय के देहावसान के बाद जब अन्त में देविका रानी और रायबहादुर चूनीलाल और शशधर मुकर्जी आदि में खटपट हो गयी और मुकर्जी अपने ग्रुप को ले कर अलग हो गये तो जिन लोगों ने 'फ़िल्मिस्तान' की स्थापना की, उनमें रायबहादुर चूनीलाल के अलावा मुकर्जी-द्वय (शशधर और ज्ञान), अशोक कुमार, प्रदीप, आदि पार्टनर थे। आये तो उनके साथ शाहिद लतीफ़ और सन्तोषी भी थे, पर पार्टनर या डायरेक्टर वे नहीं होंगे। उनका कोई शेयर नहीं रहा होगा। सो जब मण्टो ने उन्हें तंग किया तो वे चले गये। (यह भी हो सकता है कि उनका भी कोई शेयर हो और मुकर्जी ने मण्टो को शह दे दी और पहले उनका ही पत्ता साफ़ कर दिया हो)। बहरहाल, मण्टो ने मुझे बताया कि प्रदीप का कुछ शेयर भी था। उन्हें कम्पनी से बारह सौ रुपये मासिक मिलते थे और उनके साथ अनुबन्ध था कि वे अन्य किसी को अपने नाम से गीत नहीं देंगे।

अब वास्तविक स्थिति क्या थी, यह तो शशधर मुकर्जी अथवा प्रदीप ही जानते होंगे। मैंने जो सुना, वही मैं लिख रहा हूँ। जाने कभी बहस-बहस में प्रदीप ने कह दिया कि फ़िल्मों की सफलता उनके गीतों की वजह से हुई है या प्रदीप ने ऐसी ही कोई बात कही और मुकर्जी बुरा मान गये। उन्होंने प्रदीप से

गीत लेना बन्द कर दिया। 'चल चल रे नौजवान' की बात मैं नहीं जानता, लेकिन न 'मज़दूर' में उनका कोई गीत था, न 'सफ़र' में और न 'शिकारी' अथवा 'आठ दिन' में। बस वे बारह सौ रुपये महीना पाते थे। हर महीने वेतन लेने स्टूडियो आते अथवा यों ही एकाध चक्कर मारते। मैंने उन्हें किसी से ज़्यादा बोलते-बतियाते नहीं सुना। सिर्फ़ परेरा से मिलते थे या बर्मन साहब के पास बैठ कर उन्हें कोई नयी धुन सुनाते थे।

मुकर्जी प्रदीप को यही एहसास दिलाना चाहते थे कि उनके बिना भी हिट फ़िल्में बन सकती हैं। लेकिन शशधर मुकर्जी, सन्तोषी, शाहिद और प्रदीप – यह चौगड्डा टूट गया तो 'चल-चल रे नौजवान,' 'मज़दूर,' 'शिकारी,' 'बेगम' और 'आठ दिन' – कोई भी बॉक्स ऑफ़िस पर उतनी सफल नहीं हुई, जितनी 'बन्धन,' 'कंगन,' 'किस्मत' या 'झूला'।

रहे प्रदीप – तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन दिनों मुकर्जी ने उन्हें अपरम्पार मानसिक कष्ट दिया। वे जब तक 'फ़िल्मिस्तान' से अलग नहीं हुए, बाहर गीत नहीं दे सके। लेकिन बाद में न केवल उन्होंने सफल गीत दिये, वरन उन गीतों को अपना स्वर भी दिया।

'नास्तिक' का गीत –

> **देख तेरे संसार की हालत क्या हो गयी भगवान,**
> **कितना बदल गया इंसान**

'नागमणि' का गाना –

> **पिंजरे के पंछी रे, तेरा दरद न जाने कोय**
> **विधि ने तेरी कथा लिखी है, आँसू में कलम डुबोय**

'जागृति' का गीत –

> **आओ बच्चो तुम्हें दिखायें झाँकी हिन्दुस्तान की,**
> **इस मिट्टी से तिलक करो यह धरती है बलिदान की**

और ऐसे न जाने कितने हिट गाने प्रदीप ने 'फ़िल्मिस्तान' से अलग होने के बाद लिखे।

इसमें कोई शक नहीं कि शशधर मुकर्जी में हिट फ़िल्में बनाने की प्रतिभा थी। दो बार जब उनकी फ़िल्में पिटने लगी तो उन्होंने नया फ़ार्मूला दे कर फिर अपनी फ़िल्मों को बॉक्स ऑफ़िस पर सफल कर दिया। 'न्यू थियेटर्ज़,' 'बॉम्बे टॉकीज़' अथवा शान्ताराम की सोद्देश्य कलात्मक फ़िल्मों की परम्परा से अलग हिन्दी फ़िल्मों को सस्ते मनोरंजन की राह पर और उनकी वस्तु को घटिया-से-घटिया बनाने का 'श्रेय' बहुत बड़ी मात्रा में शशधर मुकर्जी को दिया जा सकता है।

लेकिन अपनी इस 'प्रतिभा' के बावजूद शशधर मुकर्जी प्रदीप को हमेशा के

लिए खामोश नहीं कर सके। मुकर्जी के चंगुल से मुक्त होने के बाद प्रदीप के गीत फिर लोकप्रिय हुए और इसमें सन्देह नहीं कि शशधर मुकर्जी को लोग भूल जायेंगे पर प्रदीप के सीधे, सरल, लोकप्रिय गीत उनके दिलों में सदा सुरक्षित रहेंगे।

भुस-भरा बोरा

कानु राय की याद आते ही मेरी आँखों के सामने मलाड (बम्बई) की एक बँगलिया में एक छोटी-सी कॉटेज का बरामदा और उसमें एक ओर लटकता हुआ भुस-भरा बोरा घूम जाता है। इस बोरे पर कानू राय बिला-नाग़ा बॉक्सिंग प्रैक्टिस करते थे।

वे बंगाली थे। उनका सही नाम शायद कनु राय होगा, पर 'फ़िल्मिस्तान' में सब उन्हें कानू राय बुलाते थे। वे कम्पनी के अनुबन्धित हीरो थे। उस वक्त जब मैं 'फ़िल्मिस्तान' में मुलाज़िम हुआ, उन्हें तीन सौ रुपये मासिक मिलते थे। और गोपाल सिंह नेपाली की तरह उन्हें भी तब तक कहीं कोई काम नहीं मिला था। वे सुबह स्टूडियो आते। मुकर्जी के दरबार में हाज़िरी देते। उसके बाद ज्ञान मुकर्जी जहाँ भी बैठे होते, वहाँ जाते। उनको 'नोमोश्कार' बुलाते। फिर वाचा के पास जाते। उनसे बतियाते और इसके बाद स्टूडियो के जितने महत्वपूर्ण लोग थे, उनसे मिलते-मिलाते।

चूँकि वे नेपाली के घर के ज़रा आगे ही रहते थे। नेपाली से मेरा पूर्व परिचय था, वे मेरे नाम से और मैं उनके नाम से परिचित था, इसलिए हममें जल्दी ही मैत्री हो गयी थी। नेपाली ही मुझे कानु राय से मिलाने ले गये थे।

मुझे वह सुबह अच्छी तरह याद है। इतवार का दिन था, मैं सुबह-सुबह सैर को निकला तो नेपाली की तरफ़ चला गया। वे मुझे ले कर कानु राय के पास गये।

हम ज़रा जल्दी चले गये थे। कानू राय बरामदे में लटके भुस के बोरे पर ज़ोर-आज़माई कर रहे थे। बिना हमारी तरफ़ देखे, होंटों ही होंटों में गिनते हुए, वे लगातार उससे जूझे रहे। पसीने-पसीने हो गये। फिर कसरत खत्म कर, उन्होंने वहीं रस्सी पर टँगे तौलिये से पसीना पोंछा, दोनों कुहनियाँ मोड़ीं, साँस को अन्दर भरते हुए सीने को पूरी तरह फुलाया, पेट को एकदम पिचकाया और बाँहों, रानों और पिंडलियों के मज़बूत और सुन्दर पट्ठे दिखाते हुए सगर्व कहा :

"है ऐसी स्ट्रीम-लाइन्ड बॉडी इस फ़िल्मी दुनिया में किसी साले हीरो के पास? हमारे फ़िल्मी हीरो साले जनखे हैं — जनखे!"

वे परम उदारता से तत्कालीन फ़िल्मी नायकों की प्रशंसा में कुछ और

उपाधियाँ वितरित करते, लेकिन तभी नेपाली ने उन्हें मेरा परिचय दिया। वहीं बरामदे में उन्होंने दरी बिछा दी और हम तीनों बैठ गये।

कानु राय शादी-शुदा थे। उनकी पत्नी पतली-छरहरी, सुन्दर, सुसंस्कृत महिला थीं। वे तश्तरियों में कुछ नमकीन रख कर चाय की व्यवस्था करने चली गयीं। नेपाली ने मुझे कानु राय का सविस्तार परिचय दिया और हम तीनों गप्प करने लगे।

०

मलाड में रहने की वजह से हफ़्ते-पखवाड़े कानु राय से भेंट हो जाती। स्टूडियो में भी कहीं-न-कहीं टकरा जाते। वे मुझे फ़िल्मों में जमने के गुर बताते (उन्हीं ने मुझे यह टिप दी थी कि शशधर मुकर्जी से कोई काम लेना हो तो उनकी पत्नी से कहना चाहिए) अपने सपने सुनाते, उनकी पूर्ति के मार्ग की बाधाएँ गिनाते और ऐलान करते कि अपने उस स्ट्रीम-लाइन्ड शरीर और अभिनय-कौशल के बल पर वे उन्हें पार कर देश के प्रसिद्ध फ़िल्मी हीरो बन जायेंगे। उस भाषण में, जो वे प्रायः ऐसे में देने लगते, वे एक-न-एक बार अपने बाजुओं के पट्ठे ज़रूर दिखाते और दो-एक बार सीने पर ज़ोर से मुक्का मार कर उसकी चट्टान-सी मज़बूती का प्रमाण देते। उन्हें पूरा यकीन था कि अगर कोई उन्हें एक बार हीरो का रोल दे दे, तो फिर निश्चय ही वे ऐसा अभिनय करके दिखायेंगे कि फ़िल्मी दुनिया के तमाम हीरो, चाँद के उदय होने पर सितारों ऐसे मन्द पड़ जायेंगे।

जब उनसे मेरी घनिष्ठता हो गयी और वे मुझसे खुल कर बात करने लगे तो वे अशोक कुमार, पृथ्वीराज कपूर और तभी नये-नये हीरो बने दिलीप कुमार के अभिनय की खामियाँ सविस्तार गिनाते और कहते कि आप देखिएगा, मैं कैसा काम करके दिखाता हूँ।

चूँकि वे बंगाली थे और रोज़ सुबह या शाम ज्ञान मुकर्जी और शशधर मुकर्जी के घर हाज़िरी देते थे, इसलिए उन्हें पूरा यकीन था कि जल्दी ही उन्हें हीरो का रोल मिल जायगा और तब उनके ही नहीं, फ़िल्मी दुनिया के दिन भी फिर जायेंगे।

जैसे-जैसे दिन बीतते जाते, उनकी कुण्ठा बढ़ती जाती। वे मेरे आने के एक साल पहले से मुलाज़िम थे और यह उनका दूसरा साल जा रहा था। वेतन जो उन्हें मिलता था, वह एक एक्स्ट्रा का था और हीरो से कम कोई दूसरा रोल वे करना नहीं चाहते थे, क्योंकि उनसे यह वायदा किया गया था। कई बार वे 'फ़िल्मिस्तान' पर, फ़िल्मी दुनिया पर, सफल नायकों पर, अपनी नियति पर इतने खीझ जाते कि उनका चेहरा विकृत हो जाता। वे मन में एक गाली निकालते और भुस-भरे बोरे पर एक मुक्का मारते — अमुक की माँ की (बोरे पर मुक्का), अमुक की बहन की (बोरे पर मुक्का) — और इस तरह अपने क्रोध को शान्त कर

लेते । और जब बाहर निकलते तो हमेशा मुस्कराते हुए । क्रोध के शमन का यह गुर उन्होंने मुझे भी बताया था । यह मेरा दुर्भाग्य है कि मैं उसका लाभ नहीं उठा सका ।

मैं बहुत-सी शक्लें भूल गया हूँ, लेकिन कानु राय की सूरत हमेशा के लिए मेरे मस्तिष्क पर अंकित हो गयी है — लम्बा-छरहरा, गठा हुआ, कसरती शरीर, चौड़ा माथा, सानुपातिक नाक, पतले होंट, गहरी आँखें, चौड़ी भवें और हल्का साँवला रंग । बहुत ख़ूबसूरत तो नहीं, लेकिन वे खुश-शक्ल ज़रूर थे । पर जब वे बात करते — विशेषकर खीझ या व्यंग्य में — तो उनके होंटों के बायें कोने में कुछ ऐसा विकुंचन पैदा हो जाता, जो हल्की-सी वितृष्णा जगाता था । कभी-कभी मुझे लगता कि यह आदमी और चाहे जो हो जाय, सफल हीरो नहीं बन सकता । जाने क्यों, उनको देख कर मुझे सॉमरसेट मॉम के प्रसिद्ध उपन्यास — ऑफ़ ह्यूमन बॉण्डेज — के एक प्रसंग की याद आ जाती । उसमें एक ख़ूबसूरत हृष्ठ-पुष्ट नौजवान है, जो महान उपन्यासकार बनना चाहता है । पेरिस में रहने का खर्च जुटाने के लिए वह चन्द सिक्कों के एवज़ में चित्रकारों का मॉडल बनता है, लेकिन उपन्यास के नेरेटर का कहना है कि वह और चाहे जो बन जाय, उपन्यासकार नहीं बन सकता, क्योंकि उसमें प्रतिभा नहीं । कानु राय की तमाम कसरत, उनके तमाम स्ट्रीम-लाइण्ड शरीर, उनकी सारी इच्छा-आकांक्षा के बावजूद, मुझे लगता था कि उनके भाग्य में सदीवी कुण्ठा ही लिखी है ।

'मज़दूर' फ़िल्म के लिए जब नायक के चुनाव की बात आयी तो शायद मुकर्जी ने कानु राय का नाम लिया था । नीतिन बाबू ने शायद उन पर कुछ फ़िल्म भी नष्ट की थी । वे स्वयं बहुत अच्छे कैमरामैन थे लेकिन उन्होंने उन्हें नहीं लिया था । कुर्रा दिलीप कुमार के छोटे भाई, नासिर खाँ पर गिरा था और 'मज़दूर' में वे ही नायक बने थे । लेकिन जब 'सफ़र' बननी शुरू हुई तो चूँकि निर्देशक मित्रा, नीतिन बाबू जितने सशक्त नहीं थे, वे मुकर्जी की बात मान गये और कानु राय अपनी अपरम्पार निष्ठा, खुशामद, और मस्केबाज़ी की वजह से अन्ततः 'सफ़र' के नायक चुन ही लिये गये ।

०

कानु राय बहुत अच्छी हिन्दी बोलते थे । मुझे सम्वादों वग़ैरह में उनके साथ किसी तरह की कठिनाई नहीं हुई । सम्वाद भी उनको पूरी तरह याद रहते थे । लेकिन दोष उनमें यह था कि वे बहुत ही आत्म-सजग हो कर अभिनय करते थे । सम्वाद बोलते अथवा अभिनय करते समय वे खुल न पाते । उनको हर वक्त यह एहसास रहता कि उन्हें अशोक कुमार और पृथ्वीराज कपूर से बेहतर अभिनय करना है और इस मानसिक तनाव के फलस्वरूप उनके होंटों पर हलका-सा विकुंचन और

माथे पर बहुत ही क्षीण-सी रेखा बन जाती । हँसते अथवा मुस्कराते तो लगता, जैसे वे उसके लिए क्षमा माँग रहे हों ।

मैं उनको लाख समझाता कि वे अपने आपको भूल जायें । अशोक कुमार और पृथ्वीराज कपूर को भूल जायें । अपने अभिनय से उन्हें देश भर को चकित कर देना है, इसे भी भूल जायें । अपने आपको कहानी के नायक की भूमिका में ढाल दें और तब अभिनय करें । लेकिन दुर्भाग्य से पूरी फ़िल्म बन गयी और कानु राय — कानु राय ही रहे । न उनके चेहरे की रेखा गयी, न उनके बायें होंट का विकुंचन ।

फिर वे कभी नायक नहीं बने और यदि बने तो उनका कोई नाम नहीं हुआ । मैं जानता हूँ कि वे इसका दोष अपने सिवाय बाकी सबको देंगे । निर्देशक मित्रा को, जिन्होंने उनके मुकाबिले शोभा को ज़्यादा महत्व दिया; कैमरामैन को, जिसने अपना कैमरा हीरोइन पर टिकाये रखा, मुकर्जी को या फ़िल्मी दुनिया को तिकड़मबाज़ी को, या अपनी नियति को । वे नहीं दोष देंगे तो उस भगवान को, जिसने उन्हें अभिनय की प्रतिभा नहीं दी और यह प्रेरणा दी कि भुस-भरा बोरा बरामदे में टाँग लें और जब क्रोध आये, लगातार अपने शत्रुओं को मन-ही-मन गालियाँ देते हुए, उस पर मुक्के बरसायें और अन्ततः उसी जैसे बन जायें ।

मारे गये गुलफ़ाम

'मज़दूर' की रिलीज़ के बाद 'बंगाल बोर्ड ऑफ़ फ़िल्म जर्नलिस्ट्स' की ओर से उसके सम्वाद १९४५ के बेहतरीन सम्वाद घोषित किये गये । उस ज़माने में 'फ़िल्म फ़ेयर' अभी निकला भी नहीं था और फ़िल्मी दुनिया में 'बंगाल बोर्ड ऑफ़ फ़िल्म जर्नलिस्ट्स' की घोषणाएँ और प्रमाण-पत्र बहुत महत्व के समझे जाते थे । ज्योंही यह घोषणा अख़बारों में छपी, दूसरे या तीसरे दिन की बात है, अचानक निर्देशक वीरेन्द्र देसाई अपनी कलाकार पत्नी नलिनी जयवन्त के साथ मेरे घर आये, उन्होंने मुझसे एक कहानी चाही और पूछा कि अनुमानतः मुझे कितना समय लगेगा उसे लिखने में और मैं क्या चाहूँगा ।

मैंने कहा, "मैं तीन महीने में कहानी लिख दूँगा और पाँच हज़ार रुपये लूँगा, जिसका आधा आपको पेशगी देना पड़ेगा और आधा उस वक्त, जब मैं आधी कहानी लिख कर आपको दिखा दूँ ।"

मैंने पारिश्रमिक जो पेशगी माँगा तो उसके पीछे फ़िल्मी ज़िन्दगी और उसके कार्य-व्यापार के बारे में मेरी व्यक्तिगत खोज-बीन थी ।

जैसा कि मुझे मित्रों ने बताया, वहाँ पूरी रकम कम ही मिलती है । कई

बार कहानी लिखी जाती है, कुछ रुपया पेशगी भी मिलता है, लेकिन कहानी के फ़िल्माये जाने की नौबत नहीं आती अथवा वह फ़िल्मायी जाती है तो डिब्बा बन्द हो जाती है और कहानीकार का रुपया मारा जाता है। फिर जिन लोगों का उद्देश्य फ़िल्मी ज़िन्दगी में धँसना होता है, वे प्रायः ग़म खा जाते हैं और यदि कहीं सौभाग्य से उनकी कहानी बॉक्स आफ़िस पर हिट हो जाती है तो वे शेष रकम वसूल भी कर लेते हैं। नहीं भी कर पाते तो कामयाब फ़िल्म उन्हें जो यश देती है, उसे भुना लेते हैं और किसी दूसरे को कहानी या सम्वाद जड़ देते हैं।

फ़िल्मी दुनिया में जाने से पहले मैंने तय कर लिया था कि मैं वहाँ दो-तीन साल से ज़्यादा नहीं रहूँगा। जिस दिन मेरे पास बारह-पन्द्रह हज़ार रुपया जमा हो जायगा, छोड़ दूँगा और लाहौर में स्वतन्त्र प्रकाशन करूँगा। इसीलिए मैंने कहानी का मसौदा देने से पहले देसाई से पूरा रुपया लेने की माँग की थी।

देसाई मान गये थे। उन्होंने मुझसे कहा कि वे कहानी पर मेरा नाम क्रेडिट टाइटल्ज़ में देंगे, पर यश यदि मैं चाहता था तो अपनी साहित्यिक रचनाओं ही से चाहता था, फ़िल्मी कहानियों से (कि अधिकांशतः जैसी काल्पनिक और लगभग असम्भव तब बनती थीं और आज भी बनती हैं) मैं नाम नहीं चाहता था। इसलिए मैंने उनसे कहा कि मुझे इसकी चिन्ता नहीं। दें तो भला, न दें तो भला। एक बात की शर्त रुपया लेने से पहले मैंने उनसे और कर ली। वह यह कि मैं कहानी केवल उनको पसन्द करा दूँगा, या ज़्यादा-से-ज़्यादा उनकी पत्नी को। इससे ज़्यादा मैं और कुछ नहीं करूँगा। सारी दुनिया की पसन्द का ज़िम्मा मैं नहीं लूंगा।....उन्होंने मेरी यह शर्त भी मान ली थी।

वीरेन्द्र देसाई मँझले कद के, पतले-तिकोने, लम्बोतरे चेहरे वाले एकदम सींकिया व्यक्ति थे। रंग उनका गोरा था और नाक उनकी लम्बी थी। उनके चेहरे पर चमक नहीं थी। कुछ अजीब-सा बुझा-बुझापन था। मैंने उन्हें कभी हँसते नहीं देखा। अमीर बाप के बेटे थे। जहाँ तक मुझे याद पड़ता है, 'सागर मूवीटोन' के मालिक सेठ चिमनभाई के सुपुत्र थे। शादी-शुदा थे। शायद एकाध बच्चा भी था। उनकी फ़िल्म कम्पनी में कुछ फ़िल्मों पर निर्देशक के नाते उनका भी नाम गया था। इसलिए शब्द 'निर्देशक' उनके नाम के साथ ऐसे लगा रहता था, जैसे वे माँ की कोख से बने-बनाये निर्देशक निकले हों। शायद उन्हीं के निर्देशन में बनी किसी फ़िल्म में नयी नायिका के रूप में नलिनी जयवन्त उतरी थीं — मँझला कद; गदराया, गोरा शरीर; गुबला-गुबला, गोल मुखड़ा; चौड़ा माथा; चेहरे पर सजती नाक; आँखों और अंगों में बे-पनाह चुलबुलापन। और निर्देशक वीरेन्द्र देसाई मारे गये। बीवी-बच्चों के बावजूद, वे उस अल्हड़ लड़की के हो गये।

नलिनी की उम्र उनकी अपेक्षा कम थी। अनुभव नहीं था, इसलिए उनके चक्कर में फँस गयी और दोनों ने शादी कर ली।

चिमन भाई को बहुत बुरा लगा। उन्होंने बेटे को बेदखल कर दिया। निर्देशक वीरेन्द्र देसाई को उसकी क्यों चिन्ता होती! सुन्दर और अभिनेत्री के नाते सफल नयी पत्नी के रूप में उनके पास दोहरा धन था। अपनी इस भोली पत्नी से उन्होंने वायदा ले लिया कि वह उसी फ़िल्म में काम करेगी, जिसका निर्देशन वे करेंगे। और इसी शर्त पर 'फ़िल्मिस्तान' से उनका अनुबन्ध हो गया था। स्टूडियो से ज़रा दूर मलाड की ओर एक कोठी कम्पनी ने उन्हें ले दी थी, जिसमें दोनों मज़े से रहते थे — यानी कि जितना मज़ा किसी भरपूर जवान और सुन्दर लड़की को अपने से दस-पन्द्रह साल बड़े, घुनाये हुए, पतले-सिकुड़े मर्द के साहचर्य में मिल सकता है।

यह बात तो मैं आज सोचता हूँ। उन दिनों तो उनका नया-नया प्यार था। नलिनी शायद अपेक्षाकृत ग़रीब घर से आयी थी और वीरेन्द्र देसाई एक बहुत अमीर घराने के चश्मो-चिराग़ थे, इसलिए अभी उसका नशा नहीं उतरा था। घर में वह बहुत ही प्यारी, मिलनसार, स्वयं खाना आदि पकाने-परोसने वाली; घरेलू युवती लगती थी।

०

जब कहानी के बारे में बात होने के दूसरे-तीसरे दिन ही देसाई मेरे घर आ कर चुपचाप मुझे ढाई हज़ार के बदले तीन हज़ार रुपये दे गये, न उन्होंने रसीद चाही, न अनुबन्ध किया तो मुझे बहुत अच्छा लगा। मैंने उनसे कहा कि मैं जल्द-से-जल्द उनका काम खत्म कर दूँगा। और दूसरे ही दिन दफ़्तर के बाद मैं उनसे कहानी के बारे में बातचीत करने उनके बँगले पहुँचा।

(मैंने उनके लिए क्या कहानी लिखी मुझे याद नहीं। सिर्फ़ इतना याद है कि मैंने महीने में ही आधी कहानी लिख कर उन्हें सुना दी थी और उन्होंने मुझे शेष दो हज़ार दे दिये थे और मैंने समय से पूरी कहानी लिख कर उन्हें दे दी थी। कहानी लिखने के दौरान मैं प्रायः उनसे मिलता रहता था, और जो लिखता था, उन्हें सुना आता और पास करा आता।)

इतना ज़रूर याद है कि मैंने जानना चाहा था कि वे किस विषय पर कहानी चाहते हैं? उनके दिमाग़ में कोई आइडिया अथवा थीम है या नहीं? न वे कोई थीम बता सके थे, न अपनी रुचि के बारे में ही मेरा पथ-निर्देश कर सके थे। उनके दिमाग़ में बस फ़िल्म का पहला दृश्य या कहें कि पहला शॉट था (मौलिक था अथवा किसी अन्य फ़िल्म में देखा हुआ, मैं नहीं कह सकता।)

०

बम्बई की फ़िल्मी ज़िन्दगी में भी और इलाहाबाद आने के बाद भी जब-जब

मैं बम्बई गया हूँ, मैं किसी-न-किसी ऐसे भावी फ़िल्म-निर्देशक से मिला हूँ, जो अपनी फ़िल्म के पहले शॉट को दिमाग़ में सहेजे, उस पर मुग्ध होता है। वह हर परिचित को उसे सुनाता है और उसे पूरी आशा होती है कि कोई-न-कोई वितरक या निर्माता उसके इस शॉट से प्रभावित हो कर उसे अनुबन्धित करेगा और वह ऐसी फ़िल्म बनायेगा, जो जयन्ती मना कर रहेगी। सब के तो नहीं, लेकिन एक ऐसे उत्साही भावी निर्देशक की भावी फ़िल्म का एक पहला शॉट मेरे दिमाग़ के पर्दे पर कुछ ऐसे अंकित हो गया कि आज भी मुझे याद है।

....कल्पना कीजिए कि फ़िल्म शुरू होते ही पर्दे पर सिर्फ़ एक लोहे का नल दिखाई देता है। कैमरा टिल्ट होता है और वह नल दीवार के साथ-साथ एक मंज़िल, दो मंज़िल, तीसरी मंज़िल पर चढ़ता दिखाई देता है। तभी उस पर दो पैर कठिनाई से नल को अपने अँगूठों और अनामिकाओं के बीच बाँधे, किंचित काँपते दिखाई देते हैं। अब कैमरा उन पैरों के साथ चढ़ता है। चढ़ने वाले की सारी तकलीफ़, समस्त थकन उन पैरों के माध्यम से व्यक्त होती है। तभी बायीं ओर तीसरी मंज़िल की खिड़की की सिल दिखायी देती है। एक पैर उस पर टिकता है, फिर दूसरा – फिर दोनों बायीं ओर को खिसकते हैं। फिर टाँगों के साथ खिड़की में ग़ायब हो जाते हैं....

उस भावी निर्देशक का (जो फ़िलहाल क्लैपर-बॉय था) यह कहना था कि इस प्रथम शॉट ही से दर्शकों के मन में अपार सनसनी पैदा की जा सकती है और फिर इस दृश्य से कहानी की शुरुआत करके, उसे कहीं भी ले जाया जा सकता है।....

न जाने ऐसे कितने सनसनी-भरे पहले दृश्य फ़िल्मी दुनिया की हवा में उड़ते रहते हैं, फ़िल्मी स्टूडियो में काम करने वालों के दिमाग़ों में फड़फड़ाते रहते हैं।

लेकिन वीरेन्द्र देसाई के दिमाग़ में ऐसा कोई सनसनीखेज़ दृश्य नहीं था। वे पहले दृश्य से ही हास्य की सृष्टि करना चाहते थे।

०

उन्होंने मुझे जो दृश्य समझाया, वह कुछ यों था :

....फ़िल्म शुरू होते ही सामने स्क्रीन पर किचन के दरवाज़े से लगा मध्यवित्त के ड्रॉइंग-रूम का कोना दिखायी देता है। तभी रसोई से गृहिणी की आवाज़ आती है – "सुधा, सुधा, कहाँ मर गयी रे ?"

कैमरा दीवार के साथ-साथ बढ़ता है। गोल पीठ वाले सरकण्डों के मूढ़े पर बैठी ऊँघती बहरी दादी चौंक कर कान पर हाथ रखती है और सिर को घुमा कर अपने बूढ़े पति से (जो उसी की तरह ज़रा परे मूढ़े पर बैठा है) पूछती है – "क्या ऽ - ऽ - ऽ - ऽ !"

बूढ़ा दादा कान पर हाथ रख लेता है। वह भी बहरा है। वह भी 'क्या ऽ - ऽ - ऽ - ऽ !' कहता हुआ सिर घुमा कर अपने बूढ़े छोटे भाई से, जो उसी की तरह ज़रा आगे मूढ़े पर बैठा है, वही प्रश्न करता है। वह भी उसी तरह कान पर हाथ रखे, सिर घुमा कर अपनी बुढ़िया पत्नी की ओर देखता है, जो उसी तरह कान पर हाथ रखती हुई सिर घुमाती है और कैमरा फ़िल्म की नायिका सुधा रानी पर टिकता है, जो अपने प्रेमी का चित्र चोरी से देख रही है।....

इस दृश्य को वीरेन्द्र देसाई अपने निकट अद्भुत हास्य-रस उपजाने वाला समझ रहे थे। वे चाहते थे कि मैं ऐसी कहानी लिखूँ, जिसमें वे चारों बहरे बूढ़े बूढ़ियाँ फ़िट हो जायँ। वे कभी कुछ-का-कुछ सुनें और कभी कुछ-का-कुछ कहें और उनको ले कर हास्य की अविरल सृष्टि की जाय। और सुधा (नायिका) अपने प्रेमी से उनके सामने सब तरह के प्रोग्राम तय करे।

मुझे यह सिचुएशन फूहड़ हास्य उपजाने वाली तो लगती थी, लेकिन सूक्ष्म हास्य उपजाने वाली नहीं। लेकिन यह भी ठीक है कि हमारी आम जनता क्रूड हास्य ही ज़्यादा पसन्द करती है। बहरहाल, उन चारों को ले कर मैंने एक कहानी लिखी, जिसे मैं जैसे-जैसे लिखता गया, उनसे पास कराता गया।

उस कहानी का क्या हुआ, मैं नहीं जानता। उन्होंने निर्देशन के अवसर की माँग करते हुए मुकर्जी को दिखायी होगी तो उन्होंने 'नॉनसेंस,' 'रबिश,' 'स्टूपिड' जैसे प्रशंसात्मक शब्दों से उसकी दाद दी होगी। एक बार मुझ से वीरेन्द्र देसाई ने कहा था कि सेठ जगतनारायण थोड़ी दिलचस्पी दिखा रहे हैं। वे ताज में आये हुए हैं, मैं उन्हें कहानी सुना दूँ। सेठ जगत नारायण इतने मोटे आदमी थे कि एकदम पहाड़-के-पहाड़ लगते थे। ख़ैर, मैं देसाई और नलिनी के साथ ताजमहल होटल गया था और मैंने सारा स्क्रिप्ट हाव-भाव सहित सुनाया था। लेकिन लगता है, कुछ हुआ नहीं। फिर साल भर बाद उन्होंने किसी दूसरे को सुनाने के लिए कहा था तो मैंने इनकार कर दिया था। फिर एक बार वे आये थे और उसके लिए गाने लिखवा कर ले गये थे और बता गये थे कि वे फ़िल्म का निर्देशन कर रहे हैं। लेकिन वह फ़िल्म बनी या नहीं, मैं नहीं जानता, क्योंकि मैं बीमार हो कर पंचगनी चला गया था।

०

इन्हीं, कहानी सम्बन्धी मुलाकातों के दौरान मुझे पता चला था कि मुकर्जी उन्हें दो हज़ार रुपये महीना देते हैं और दो साल के लिए पति-पत्नी को बाँधे हुए हैं, लेकिन साल भर हो गया है, न तो उन्हें कोई फ़िल्म निर्देशित करने को दी गयी है और न नलिनी को किसी फ़िल्म की नायिका ही बनाया गया है। 'शिकारी' के लिए वीरा और पारो रहीं, 'सफ़र' के लिए नयी हीरोइन शोभा चुनी गयी। और

तब मुझे मालूम हुआ कि ऊपर से ख़ूब मज़े से रहते दिखाई देने वाले डायरेक्टर वीरेन्द्र देसाई तथा नलिनी जयवन्त अन्दर से बहुत परेशान और कुण्ठित हैं।

०

मुकर्जी ऐसा क्यों करते थे, मैं ठीक से तो नहीं कह सकता, लेकिन उनका काम करने का ढंग कुछ ऐसा था कि वे अपने मन की बात नहीं बताते थे और चाहते थे कि दूसरे उसका अनुमान करके उसके अनुसार काम करें। मैं ऐसा समझता हूँ कि नलिनी जयवन्त की सफलता देख कर उन्होंने नायिका के रूप में उसे चाहा होगा; लेकिन उसने कहा होगा कि देसाई जिस फ़िल्म के निर्देशक होंगे, उसी में वह नायिका रहेगी। मुकर्जी ने अनुबन्ध करके दो वर्ष के लिए बैठा दिया होगा। उन्होंने एकाध बार संकेत किया होगा कि 'आठ दिन' में नायिका का रोल कर लो, लेकिन वही देसाई वाली पख होगी। यह भी हो सकता है कि फ़िल्म के पर्दे पर उसकी सफलता देख कर 'चल चल रे नौजवान' की नायिका नसीम का रास्ता साफ़ करने के लिए उन्होंने दो वर्ष का अनुबन्ध करके उसे बैठा दिया हो।....यही अन्तिम बात मुझे सही लगती है।

वीरेन्द्र देसाई और नलिनी जयवन्त दो वर्ष तक मुफ़्त पैसा पाते रहे। इस बीच नलिनी का नाम फ़िल्मी दर्शक लगभग भूल गये। देसाई के निर्देशन की शर्त रख कर नलिनी ने अपना बहुत अहित किया। मर्द का सुख उन्हें कितना मिला होगा, मैं नहीं जानता। वह सूखी लकड़ी-सा मर्द, जो यदा-कदा कुछ दवाई चाटता रहता था, कुछ वैसी आकर्षक चीज़ नहीं था। बाद में मैंने सुना कि देसाई को छोड़ने के बाद नलिनी ने कुछ बहुत अच्छी फ़िल्मों में अभिनय किया, लेकिन मैंने वे फ़िल्में नहीं देखीं।

सुलोचना, ज़ुबैदा, माधुरी, सविता देवी, देविकारानी, जमुना, काननबाला, उमाशशि, नसीम, शमीम, शान्ता आप्टे, नर्गिस, गीताबाली, वैजयन्तीमाला, नूतन, कामिनी कौशल, आदि की तरह नलिनी जयवन्त का नाम नहीं लिया जाता, जबकि वह बहुत अच्छी अभिनेत्री थी। इलाहाबाद आने के बाद मैंने उसकी एक शुरू की फ़िल्म देखी थी और मैं उसका अभिनय देख कर दंग रह गया था। और तब मुकर्जी ने अपनी सादियत-पसन्दी अथवा व्यापारिकता और देसाई ने अपनी बुलहवसी में जो ज़ुल्म किया, वह द्विगुणित हो कर मेरे सामने आ गया था।

आज भी कभी-कभी मुझे उन दिनों की याद आती है तो दूध-धुली साड़ी पहने, हँसती-मुस्कराती नलिनी जयवन्त अपने माटुंगा वाले फ़्लैट में (जहाँ वह 'फ़िल्मिस्तान' में दो साल बर्बाद करके उठ गये थे) गैस पर चाय बनाती और बाल्कनी में मोढ़े पर दवा चाटते लकड़ी से सूखे उसके पति — निर्देशक वीरेन्द्र देसाई — मेरी आँखों में घूम जाते हैं।

दीन-दुनिया से बेख़बर

'फ़िल्मिस्तान' में मेरी दूसरी फ़िल्म 'सफ़र' थी, जिसे निर्देशक बी० मित्रा (विभूति मित्रा) ने डायरेक्ट किया था। हालांकि मैंने उसके सम्वाद लिखे थे और लगातार सेट पर जा कर सम्वाद-निर्देशन किया था, लेकिन मुझे उस फ़िल्म की एक भी घटना याद नहीं — सिवा उसके निर्देशक और हीरोइन की सूरतों और मुहूर्त के दिन फ़िल्माये जाने वाले पहले दृश्य के।

निर्देशक बी० मित्रा पतले-छरहरे, मँझले कद के, ऐसे युवक थे, जिन्हें पंजाबी भाषा में 'लैरे' और उर्दू भाषा में 'नमकोन' की संज्ञा दी जाती है। पतले किनारे की धोती और कमीज़ पहनते थे और अच्छे-ख़ासे माशूक़ दिखाई देते थे। पीठ पीछे प्रायः यूनिट के वर्कर उनको मुकर्जी का लौंडा कहा करते थे।

मित्रा ने एक बार मुझे बताया था कि वे अपनी शादी से खुश नहीं थे। उनकी पत्नी किसी बड़े अमीर आदमी की बेटी थी। सगाई में मित्रा ने विलायत जा कर सिनेमैटोग्राफ़ी की शिक्षा लेने की माँग रखी थी। उनके ससुर ने उन्हें भेज दिया था और उनका कहना था कि उन्होंने सस्पेन्स के बादशाह, प्रसिद्ध निर्देशक ऐलफ़्रेड हिचकॉक से शिक्षा ली थी।

मैंने ऐलफ़्रेड हिचकॉक की बहुत-सी फ़िल्में देखी हैं। इसमें कोई शक नहीं कि कहानी के चुनाव और उसे इस तरह फ़िल्माने में, कि दर्शक के मन में निरन्तर

असमंजस और औत्सुक्य बना रहे, हिचकॉक का कोई जवाब नहीं। मित्रा में हिचकॉक ऐसी कितनी प्रतिभा थी, मैं नहीं जानता। मैंने हिचकॉक की जितनी फ़िल्में देखी हैं, उन सबकी कहानियाँ मुझे याद हैं, जब कि मित्रा की फ़िल्म 'सफ़र' की कहानी, जिसके सम्वाद मैंने ही लिखे थे, मुझे याद नहीं रही।

यों मित्रा ने कुछ ट्रॉली शॉट बहुत अच्छे लिये थे। उन्हीं के कारण मुझे वह शॉट याद रह गया, जो मुहूर्त में लिया गया था — धुन्ध में नायक और नायिका पेड़ के नीचे मिलते हैं, जब नायिका नायक का सिगरेट सुलगाती है। मित्रा ने यह सीन स्टूडियो में बने एक पेड़ के नीचे, अर्ध गोलाकार घूमने वाली ट्रॉली के माध्यम से लिया था और पर्दे पर बहुत अच्छा आया था। धुन्ध का इफ़ेक्ट स्टूडियो में धुएँ के माध्यम से दिया गया था। मेरी याद के पर्दे पर घूमते हुए कैमरे से लिया गया सिगरेट लाइटर से जलते हुए सिगरेट का दृश्य और धुन्ध में से कुछ-कुछ दीखते नायक-नायिका के चेहरे आज भी अंकित हैं।

मित्रा में थोड़ा-सा चांचल्य था। उनकी आँखों में, होंटों के कोनों में, मुस्कान में! मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि यह व्यक्ति जो खुद लौंडा-सा दिखाई देता है खासा दिल-फेंक निर्देशक है। लेकिन जिस दिन शोभा ('सफ़र' की होने वाली नायिका) स्टूडियो में कैमरा-टेस्ट के लिए आयी, उसी दिन मित्रा बाबू उसे दिल दे बैठे। उन्होंने ऐसे हुमक कर, इतनी तरह से, उसके चेहरे के शॉट लिये कि बिना रशिज़ देखे ही मैं समझ गया कि शोभा 'सफ़र' की नायिका चुन ली जायगी।

और वह चुन ली गयी।

कहानी फ़िल्माने के वक्त मित्रा इस बात का खास खयाल रखते कि जब शोभा सेट पर हो तो कैमरा ज़्यादा-से-ज़्यादा उस पर रहे और उसकी विभिन्न भंगिमाओं के क्लोज़-अप लिये जायें।

मुझे याद है कि शुरू के दिनों में शोभा दो-एक बार मेरी मेज़ पर बहुत आत्मीय भंगिमा में आ कर बैठी थी। निहायत चंचल और सुन्दर युवती। उसने मुझसे फ़िल्मी नायिका के रूप में सफल होने के लिए टिप चाही थी और इच्छा प्रकट की थी कि जब मैं उसके सम्वादों से पूरी तरह सन्तुष्ट हो जाऊँ तभी सीन फ़िल्माने का परामर्श दूँ। ज़ाहिर है, फ़िल्मी दुनिया में सफल होने के लिए उसके मन में बेपनाह इच्छा और उत्कण्ठा थी। मैंने उससे कहा कि वह उसकी चिन्ता न करे। वह चिन्ता मेरी है। यूँ तो पंजाबी होने के नाते हिन्दी बोलने में कहीं-न-कहीं पंजाबी लहजा आ ही जाता है तो भी मैं उसके उच्चारण की शुद्धता का खयाल रखूँगा; रही सफलता के गुर की बात तो मैंने उससे कहा कि मित्रा आपको बहुत चाहते हैं। आप सुन्दर हैं, उन्हें साधे रखिए, आपकी सफलता में कोई शक न रहेगा।

और सचमुच दूसरे ही दिन से वह स्टूडियो के बाद स्टेशन तक मित्रा के

साथ पैदल ही चल दी। प्लेटफ़ार्म पर पहुँचे तो गाड़ी के आने में देर थी। सहसा मित्रा ने कहा:

"चलो, अगले स्टेशन तक पैदल चलते हैं।"

"चलिए!"

और दोनों अंधेरी की तरफ़ चल दिये — पहले प्लेटफ़ार्म पर, फिर उससे उतर कर, लाइनों के बीचोंबीच — शहतीरों पर पांव रखते हुए!

मेरी आँखों में आज भी कॉलेज के दो छात्रों की तरह पहले प्यार की उमंग में लाइन-लाइन पांच मील चल देने वाले शोभा-मित्रा की छवि है। तब मुझे वे दोनों ऐन-मैन वैसे ही लगे थे — पहले प्यार में दीन-दुनिया से बेखबर कॉलेज का लड़का और लड़की।

ऐतिहासिक हीरोइन

शोभा मँझले कद की निहायत पतली-छरहरी, चुलबुली युवती थी। उसके पति भारतीय सेना में कैप्टेन थे। यों तो सेना की ज़िन्दगी में ऐसी सुन्दर औरतें पतियों के लिये तरक्की के बहुत-से रास्ते खोल देती हैं और शोभा हर लिहाज़ से मिलिट्री के अफ़सर की पत्नी बनने के योग्य थी। लेकिन उसके मन में फ़िल्मी नायिका बनने की साध थी। वह कैसे 'फ़िल्मिस्तान' में पहुँची, कैसे मुकर्जी तक उसने रसाई की, यह तो मैं नहीं जानता। लेकिन एक दिन वह अपने कैप्टन पति के साथ सेट पर टेस्ट के लिए आ गयी। मैं कह नहीं सकता क्यों, मुझे उसमें और बलराज की बीवी दम्मो में कुछ अजीब-सी समानता लगती थी। शायद दोनों पिण्डी की ओर की थीं इसलिए! यों दोनों की खूबसूरती में कोई तुलना नहीं की जा सकती थी। दम्मो का नाक-नक्श तीखा आर्यायी था और शोभा का चेहरा सेब की गोलाई लिये हुए, पतला-दुबला था। कल्ले ज़रा-से अन्दर धँसे थे, गालों की हड्डियाँ ज़रा-सी उभरी थीं। नाक तीखी, होंट पतले, आँखें चंचल और माथा चौड़ा था। वह हँसती थी तो दोनों गालों में गढ़े बन जाते थे।

मैं शोभा के पति का नाम भूल गया हूँ, लेकिन उसकी शक्ल मुझे आज भी याद है। दफ़्तर की सीढ़ियाँ उतर कर स्टूडियो की ओर आते हुए दोनों पति-पत्नी की छवि जैसे हमेशा के लिए मेरे मन पर अंकित हो गयी है।

जब तक 'सफ़र' की शूटिंग चलती रही, मित्रा और शोभा शीर-शकर रहे। मैं बाद में पंचगनी चला गया। फिर अखबार में पढ़ा था कि शोभा मित्रा के घर जा बैठी थी और उसके पति ने पुलिस की मदद से उसे अपने कब्ज़े में किया था और बम्बई से ले गया था।

मुझे याद नहीं कहाँ, श्रीनगर में या गुलमर्ग में, श्रीमती पुष्पा राजहंस से मुलाकात हुई थी। वे सेना के एक मेजर की पत्नी थीं। शोभा के बाद ही फ़िल्मों में आयी थीं। बहुत अच्छा गाती और अभिनय करती थीं और एक-दो फ़िल्मों के बाद अचानक गायब हो गयी थीं। बातों-बातों में उन्होंने शिकायत की कि शोभा ने अपनी करतूत से सैनिकों की पत्नियों के लिए फ़िल्मों के दरवाज़े बन्द कर दिये। क्योंकि शोभा की घटना के बाद ही सेना में यह आदेश निकल गया था कि सैनिकों की पत्नियाँ फ़िल्मों में काम नहीं कर सकतीं।

नायिका-निर्देशक-प्रेम : मनोविज्ञान

आमतौर पर फ़िल्मी दुनिया में कहा जाता है कि फ़िल्मी नायिकाओं को इण्ट्रोड्यूस करने वाले निर्देशक और फ़ॉरिस रोड की सुन्दरियों के दलाल इन अर्थों में समान होते हैं कि दूसरों के सामने पेश करने से पहले वे स्वयं उनसे अच्छी तरह परिचित हो लेते हैं।

मैं मानता हूँ, यह कथन न केवल अतिशयोक्तिपूर्ण है, वरन शायद सफल निर्माताओं अथवा निर्देशकों के प्रति ईर्ष्या-विद्वेष से ही उपजा है। क्योंकि अपने परिचितों में शशधर मुकर्जी को (उनकी तमाम खामियों और क्रूरताओं के चलते) इस मामले में मैंने पाक ही पाया। नसीम से उनका भावात्मक सम्बन्ध भले रहा हो, पर इन्दुमति, पारो, वीरा, शोभा, चार-चार नायिकाओं में से मैंने किसी के साथ मुकर्जी का नाम लिया जाते नहीं सुना। यही हाल नीतिन बोस और अशोक कुमार का था और नये निर्देशकों में, जिन्हें मैं जानता हूँ, नरेन्द्र बेदी का है।....लेकिन यह मानने के बाद मैं यह भी कहना चाहूँगा कि मित्रा-शोभा की बात महज़ अपवाद नहीं। कभी सन्तोषी और रेहाना ('सगाई' की नायिका) के प्रेम-प्रसंग के खूब चर्चे थे। सन्तोषी की पत्नी जो पतली-छरहरी सुन्दर महिला थीं, सदा परेशान रहती थीं।....राजकपूर के साथ वर्षों तक नर्गिस, फिर वैजयन्ती माला का नाम लिया जाता रहा। देवानन्द ने तो अपनी नायिका कल्पना कार्तिक से शादी ही कर ली। फिर इधर ज़ीनत अमान और देवानन्द के सम्बन्धों को ले कर हवा में निरन्तर तिनके उड़ते रहे हैं। गुरुदत्त और वहीदा रहमान की बात भी खूब होती रही और यहाँ तक कहा गया कि उसी प्रेम में उस मेधावी निर्देशक के प्राण गये। राजेन्द्र सिंह बेदी और रेहाना सुल्तान, फिर बेदी और मुमन के ढेरों किस्से सुने गये। क्या इसका कारण सिर्फ़ फ़िल्मी ग्लैमर और एक बार मक़बूल होने के बाद मिलने वाले धन का लालच है, जो फ़िल्मी नायिकाओं को फ़िल्मी निर्देशकों से प्रेम-प्रदर्शन पर मजबूर करता है अथवा निर्देशक अपने

अधिकार में आयी युवती की ज़रूरत को जानते हुए उसका नाजायज लाभ उठाना चाहते हैं?

ये दोनों बातें सही हो सकती हैं। लेकिन एक तीसरा कारण भी है, जो निर्देशकों को इस बात की प्रेरणा देता है कि अपनी नायिकाओं को भावात्मक तौर पर अपने साथ उलझा लें। मुझे याद नहीं कि राजकपूर से बात-बात में इस कारण का संकेत मिला था अथवा उनके साथ के किसी और आदमी से। १९५६ में जब मैं डेढ़ माह के लिए सोवियत संघ गया था तो जिस होटल में ठहरा था, उसी में राजकपूर और नर्गिस तथा सोहराब मोदी और मेहताब ठहरे थे। बात-चीत में कहा गया कि यदि नायिका और निर्देशक में प्रेम का नाता कायम हो जाता है तो नायिका अपने प्रिय निर्देशक की फ़िल्म के लिए जी-जान से काम करती है। फिर निर्माता को न शूटिंग की तारीखों की तकलीफ़ होती है और न उतना धन ही देना पड़ता है।

तब मुझे लगा कि इस कारण में कुछ सत्य ज़रूर है, लेकिन जब भावनाएँ इस व्यापारिक कारण को लाँघ जाती हैं तो कितनी तकलीफ़ होती है, इसका अन्दाज़ा उस स्थिति में फँसे लोगों के निकट वाले ही कर सकते हैं।

ऑल ईडियट्स

बंगाली निर्देशकों का, वे नीतिन बोस हों या बी० मित्रा, यह तरीका था कि वे अथवा उनके बँगला कथाकार सारी पिक्चर — सीक्वेंसों तथा सम्वादों सहित — अंग्रेज़ी में लिखते थे। सम्वाद-लेखक का काम महज़ उन अंग्रेज़ी सम्वादों को रवाँ और मुहावरेदार हिन्दी-उर्दू में लिखना रहता था। चूँकि नीतिन बाबू उर्दू पसन्द करते थे, इसलिए मैंने 'मज़दूर' के सम्वाद उर्दू में लिखे थे; मित्रा हिन्दी पसन्द करते थे, इसलिए 'सफ़र' के सम्वाद मैं हिन्दी में लिखता था और हिन्दी टाइप राइटर पर फ़ेयर करके मित्रा को दे देता था। इतने से वे प्रसन्न हो जाते थे।

जब कानूराय हीरो और शोभा हीरोइन चुनी गयी और पहले कुछ सीन फ़िल्माये गये तो एक सुबह दफ़्तर आते ही मित्रा ने कहा कि आज मुकर्जी रशिज देखेंगे, आप भी चलिएगा। मैंने कहा, जब वे आयें, मुझे बुला लीजिएगा। कुछ ही देर बाद चपरासी बुलाने आया। मुकर्जी के साथ मित्रा प्रोजेक्शन-रूम की ओर आ रहे थे। मैं भी पहुँच गया। हम्माल ने दरवाज़ा खोला। प्रोजेक्शन रूम में अँधेरा था। सिर्फ़ दरवाज़े की रोशनी में पिछली दीवार के साथ लगी अन्तिम गद्देदार सीटों पर पहले मुकर्जी, उनके साथ मित्रा और उनके साथ मैं बैठ गया।

हमारे बैठते ही हम्माल ने दरवाज़ा बन्द कर दिया और दूसरे क्षण सामने पर्दे पर फ़िल्माये गये दृश्य आने शुरू हो गये।

ज्यों ही रशिज़ खत्म हुए, मुकर्जी एकदम चिल्ला उठे – ''नॉनसेंस, बकवास, रबिश, यू आर ऑल ईडियट्स ! कम्प्लीटली डिवॉयड ऑफ़ सेंस एण्ड इण्टेलिजेंस। बर्न दिस होल ब्लडी स्टफ़ !....''

और वे उठने को हुए।

मैंने साथ में बैठे मित्रा से सरगोशी में कहा, ''आप ज़रा बाहर चलिए, मुझे मुकर्जी से बात करनी है।''

तभी बाहर का दरवाज़ा खुल गया। मित्रा उठे, और बाहर निकल गये।

चूंकि मुकर्जी उठ खड़े हुए थे, इसलिए मैं भी उठा। इससे पहले कि वे प्रोजेक्शन रूम से बाहर आते, मैंने दरवाज़े ही में रोक कर उनसे कहा, ''मुकर्जी साहब, आप मुझे आज ही रिलीज़ कर दीजिए !''

उन्होंने आँखें उठा कर मेरी ओर देखा।

मैंने कहा, ''मैंने तो अपने बाप की गाली तक नहीं बरदाश्त की, घर छोड़ आया और कभी नहीं गया। मुझे इस तरह गालियाँ सुनने की आदत नहीं। आप जितनी चाहें गालियाँ मित्रा को दीजिए, लेकिन मुझे बख्शिए ! मैंने आप से पूछा था, 'मेरे सम्वाद कौन पास करेगा ?' आपने कहा था – 'मित्रा !' तो फिर आप मुझे क्यों गाली दे रहे हैं। आप कहिए, 'सम्वाद मैं देखूंगा' – तो मैं दस बार लिखूंगा और आप से पास कराऊँगा।''

क्रोध और विक्षोभ में एक साथ मैं यह सब कह गया।

मुकर्जी क्षण भर चुप रहे।

''मैं इसी क्षण जाना चाहूँगा। मैं इस तरह के व्यवहार का बिल्कुल आदी नहीं।''

क्षणांश के लिए मुकर्जी चुप रहे। फिर उन्होंने धीरे से कहा।

''ठीक है, आप जाइए ! यू सैटिसफ़ाई मित्रा, ही शैल सेटिसफ़ाई मी।''

इसके बाद फिर वैसी स्थिति नहीं आयी। मैंने कभी रशिज़ नहीं देखे। सम्वाद लिखता रहा। सम्वाद-निर्देशन करता रहा और 'सफ़र' खत्म हो गयी।

किशोर साहू और कहानी की चोरी

'सफ़र' खत्म हो गयी तो एक दिन मुकर्जी ने मुझे बुला कर कहा, ''आप अपने पुराने कमरे में वापस आ जाइए, वहाँ किशोर साहू का यूनिट आ रहा है।''

मैं अपने कमरे में आ गया – उसी में, जो मुकर्जी के कमरे के बराबर पार्टीशन लगा कर मेरे लिए बनाया गया था।

कुछ दिनों से लगातार स्टूडियो में किशोर साहू की बात चल रही थी। शायद वे कई दिनों से मुकर्जी से मिलने आ रहे थे। एक बार आ कर चटाई से बने हुए हमारे दफ़्तर भी देख गये थे। मुझे परेरा से मालूम हुआ था कि जिस प्रकार नीतिन बाबू ने 'फ़िल्मिस्तान' के सहयोग से 'मज़दूर' बनायी थी, वैसे ही किशोर साहू अपनी नयी पिक्चर 'सिन्दूर' बनाने जा रहे हैं। कुछ दिन बाद मुकर्जी ने मुझे अपने दफ़्तर में बुलाया और कहा कि किशोर साहू को सम्वाद-लेखक की ज़रूरत है, आप खाली हो गये हैं। मैंने उन्हें आप का नाम दिया है। उन्होंने एक सीन दिया है, आप लिख कर दिखा दें, उन्हें पसन्द आ जाय तो आप उनके लिए सम्वाद लिखिए।

मैंने कहा, ''जो हुक्म। लाइए, सीन दे दीजिए।''

उन्होंने अंग्रेज़ी में टाइप किये हुए दो पृष्ठों का एक सीक्वेंस दिया। मुझे पूरी तरह तो याद नहीं, लेकिन शायद गाँव में बहलियों की दौड़ का कोई दृश्य था और उसी से सम्बन्धित सम्वाद थे।

मैंने यथाशक्य मेहनत करके सम्वाद लिखे और शाम को स्टूडियो छोड़ने से पहले मुकर्जी को दे आया।

दूसरे दिन दोपहर के बाद मुकर्जी ने मुझे बुलाया और कहा कि किशोर साहू को आपके सम्वाद पसन्द आ गये हैं। आप उनके लिए सम्वाद लिखेंगे। यह कहानी का मसौदा ले लीजिए, अच्छी तरह पढ़ लीजिए और सम्वाद लिखने शुरू कर दीजिए। किशोर साहू चाहते हैं कि पूरा स्क्रिप्ट हाथ में हो तो शूटिंग शुरू करें।

''सम्वाद आप पास करेंगे या किशोर साहू।''

''उन्हें सैटिसफ़ाई कर दीजिएगा। आप कहानी पढ़ लीजिए। अभी किशोर आयेंगे। मैं आपसे मिला दूँगा।''

मैंने अपने कमरे में जा कर कहानी पढ़ी तो मेरा दिमाग़ चकरा गया। पूरी-की-पूरी कहानी श्रीमती होमवती देवी की प्रसिद्ध रचना 'गोटे की टोपी' से चुरायी गयी थी। फ़िल्मी ज़रूरतों के कारण उसमें बहलियों की दौड़ अथवा बूढ़ी दादी वग़ैरा के रूप में जो कुछ बढ़ाया गया था, वह सब मुख्य कहानी की दृष्टि से नितान्त निरर्थक था।

मैं क्रोध में उठा और स्क्रिप्ट ले कर मुकर्जी के दफ़्तर में गया।

''मुकर्जी साहब, किशोर साहू ने यह कहानी 'गोटे की टोपी' से ली है।'' मैंने सावेश कहा, ''क्या उन्होंने होमवती देवी से इजाज़त ली है ?''

''हू इज़ होमवती ?'' मुकर्जी ने अंग्रेज़ी में कहा।

मैंने भी अंग्रेज़ी में जवाब दिया कि होमवती हिन्दी की प्रसिद्ध कहानी लेखिका हैं।

तब मुकर्जी ने अंग्रेज़ी में जो कहा, उसका मतलब था कि यह किशोर साहू की चिन्ता का विषय है। आपको उससे क्या लेना है। आपको सम्वाद लिखने हैं आप सम्वाद लिखिए।

मैंने भी अंग्रेज़ी ही में जवाब दिया कि होमवती देवी मेरी मित्र हैं और अगर उनसे इजाज़त नहीं ली गयी और उन्हें कहानी के खाते में रुपया नहीं दिया गया तो मैं इसके सम्वाद नहीं लिख सकता।

मुकर्जी बहुत क्रुद्ध हुए, "बट व्हाई!" वे गरजे!

"इसलिए," मैंने भी ज़ोर से कहा, "कि किशोर साहू को कोई नहीं जानता और मुझे हिन्दी में सभी जानते हैं। सब यही कहेंगे कि अश्क इस चोरी में भागीदार है। किशोर साहू होमवती देवी से इजाज़त नहीं लेते तो मैं 'सिन्दूर' के सम्वाद नहीं लिख सकता।"

"यू आर अवर एम्प्लाई।" उन्होंने अंग्रेज़ी में कहा कि तुम कम्पनी के मुलाज़िम हो।

मैंने कहा कि मुलाज़िम तो हूँ, लेकिन न मैंने अपनी इज़्ज़त बेची है, न आत्मा।

"ठीक है, जाइए!"

और मैं अपने कमरे में आ गया।

के० जी० और जेण्डा का क़ैदी

मेरा खयाल था, उस खुले विद्रोह के बाद मुकर्जी मुझसे कोई काम नहीं लेंगे और जैसे और लोगों को बैठा कर वेतन देते थे, मुझे भी देंगे। मेरी तबियत 'सफ़र' की समाप्ति के बाद ही (मई १९४६ से) कुछ खराब रहने लगी थी। शुरू तो विण्ड-कॉलिक (वायु-शूल) से हुआ, लेकिन बार-बार दौरे पड़ने और पूरी तरह आराम न आने की वजह से मैं काफ़ी कमज़ोर हो गया था। काम में मेरी रुचि न रही थी और मैं चाहने लगा कि मैं सुविधापूर्वक 'फ़िल्मिस्तान' से छुट्टी पा जाऊँ तो बहुत अच्छा हो और यही मनाता था कि मुकर्जी मेरे साथ भी वैसा ही सुलूक करें, जैसा उन्होंने नेपाली, प्रदीप, देसाई और कानुराय, आदि के साथ किया था। लेकिन मुकर्जी की तेज़ निगाह ने शायद मेरे मन की बात भाँप ली थी, इसलिए कुछ दिन बाद एक सुबह उन्होंने चपरासी भेज कर मुझे अपने कमरे में बुलाया।

उनके सामने कुर्सी पर कुछ तिरछे हो कर, टाँगें फैलाये — मोटापे की ओर को मायल दोहरे बदन के, थोड़े लम्बे और साँवले रंग के साहब बैठे थे। उनका

चेहरा सहसा ध्यान खींचता था। उनके दायें गाल पर लगता था, जैसे भगवान ने मिट्टी का अतिरिक्त लौंदा थोप दिया है और उसे पूरी तरह समतल नहीं किया। आँख के नीचे आधे दायें गाल तक जगह उभरी-उभरी लगती थी। मुझे याद आया, एक दिन जब मैं सुबह-सुबह मुकर्जी से उनके घर पर मिलने गया था और वे झूले पर बैठे थे तो यही साहब बराबर की आराम-कुर्सी पर पसरे हुए थे।

मुकर्जी ने परिचय दिया तो मालूम हुआ कि वे फ़िल्मी दुनिया के बहुत प्रसिद्ध कैमरामैन श्रीकृष्ण गोपाल थे, जिन्हें उनके मित्र सिर्फ़ के० जी० के नाम से याद करते थे। वे सरकार के वृत्त-चित्र (डॉक्यूमेंट्री) विभाग में मुलाज़िम थे और कुछ ही दिन पहले सेवा-निवृत्त हुए थे। उनकी बड़ी इच्छा निर्देशक बनने की थी। वे चाहते थे कि मुकर्जी उन्हें निर्देशन का मौका दें और मुकर्जी ने उन्हें हज़ार-बारह सौ पर (मुझे ठीक रकम याद नहीं) 'फ़िल्मिस्तान' में निर्देशक के रूप में मुलाज़िम रख लिया था।

के० जी० का परिचय देते हुए मुकर्जी ने मुझे कुर्सी पर बैठने के लिए कहा और पूछा, "आपने 'प्रिज़नर ऑफ़ ज़ेण्डा' पढ़ा है।"

वह उपन्यास शायद एफ़० ए० में हमारे कोर्स में था। मैंने पढ़ रखा था। सो मैंने हामी भर दी।

"क्या आप फ़िल्म के लिए उसे अडैप्ट कर सकते हैं?" मुकर्जी ने पूछा।

"आप हुक्म देंगे तो कर दूँगा।" मैंने कहा।

मुकर्जी ने दराज़ से उपन्यास की एक प्रति निकाली और मेज़ पर मेरे सामने फेंक दी।

"यह लीजिए! आप के० जी० के साथ डिस्कस करके इसको लिख डालिए। कितना वक्त लेंगे।" उन्होंने कहा।

"आजकल मेरी कुछ तबियत ठीक नहीं है," मैंने कहा, "जल्दी भी करूँगा तो तीन-चार महीने तो लग ही जायेंगे।"

"ठीक है तो किताब ले जाइए, पढ़ डालिए और कल सुबह इनके साथ बैठ जाइएगा।"

और मुकर्जी उठ गये। के० जी० की तरफ़ देखते हुए उन्होंने कहा, "आप अश्क साहब के साथ सब कुछ फ़िक्स कर लीजिए।"

मुकर्जी चले गये तो मैं के० जी० के साथ काम का प्रोग्राम तय करने लगा। मैंने इस बात की भी कोशिश की कि उनकी रुचि, प्रवृत्ति का भी कुछ पता चले।

परिधि पर एक और का इज़ाफ़ा

'प्रिज़नर ऑफ़ ज़ेण्डा' पर काम करने के दौरान मैं के० जी० के साथ कई बार बैठा और दो-एक बार मैंने उनके घर खाना भी खाया। जहाँ तक मुझे

याद पड़ता है, वे उत्तर प्रदेश के थे। मांस-मछली बिल्कुल नहीं छूते थे। उरद की धुली हुई दाल खूब शौक से खाते थे (और इसीलिए उनका शरीर काफ़ी फूला हुआ था।) वे ज़रूर बहुत अच्छे कैमरामैन होंगे — मुकर्जी ने उनकी तारीफ़ की थी — लेकिन उन्हें कहानी-वहानी और निर्देशन-विर्देशन की बहुत समझ नहीं थी। और शायद मुकर्जी इस बात को जानते थे।

बातों-बातों में मुझे पता चला कि यद्यपि उन्होंने के० जी० को निर्देशन का मौका देने का वायदा किया था, मुकर्जी की इच्छा दूसरी थी। बात यह थी कि 'बॉम्बे टॉकीज में जिस गुट ने एक के बाद एक हिट फ़िल्म बना कर धूम मचा दी थी, उनमें 'बॉम्बे टॉकीज' का कैमरामैन मुकर्जी के साथ 'फ़िल्मिस्तान' में नहीं आया था। मुझे याद नहीं 'मज़दूर' में कौन कैमरामैन था और 'सफ़र' में कौन। (नीतिन बाबू के साथ तो बंगाली कैमरामैन था, 'चल-चल रे नौजवान' या 'शिकारी' में शायद कपाड़िया और 'सफ़र' में मार्शल ब्रिगैन्ज़ा थे।) लेकिन नीतिन बोस खुद बहुत अच्छे कैमरामैन थे और बी० मित्रा को भी कैमरा प्लेसमेण्ट की गहरी समझ थी। इसलिए तब मुकर्जी को कैमरामैन की वैसी ज़रूरत नहीं महसूस हुई। ज्ञान मुकर्जी फ़िल्म बनाने लगे तो मुकर्जी को कुशल कैमरामैन की ज़रूरत पड़ी और उन्होंने के० जी० से कहा कि जब तक अश्क कहानी वग़ैरा लिखता है, आप ज़रा ज्ञान की फ़िल्म का कैमरा-वर्क सँभाल लें। लेकिन के० जी० शायद पच्चीस-तीस साल कैमरामैनी करते हुए ऊब गये थे और नये क्षितिज तलाश रहे थे। उन्हें कैमरा-वर्क लेने से इनकार नहीं था, पर वह काम वे अपने द्वारा निर्देशित फ़िल्म के लिए ही करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने इनकार कर दिया।

सो यद्यपि मैंने 'ज़ेण्डा का कैदी' की कहानी लिख कर के० जी० को दे दी और उन्होंने वह पसन्द भी कर ली, मुकर्जी ने स्वभावानुसार उसकी प्रशंसा में कुछ नायाब जुमले कहते हुए, उसे एक ओर फेंक दिया। (मैं यही समझता हूँ, यद्यपि 'फ़िल्मिस्तान' में मेरे रहते तो मुकर्जी उस पर बात करने के लिए आजकल कह कर के टालते रहे।) मैंने सुना है कि वर्षों बाद मुकर्जी ने बी० मित्रा को यह काम सौंपा था। तब उसने फ्रैंक कैपरा के हवाले से (जिसने अंग्रेज़ी में वह हिट फ़िल्म बनायी थी) मेरी कहानी की प्रशंसा में कुछ और 'मधुर वचन' जोड़े थे और फ्रैंक कैपरा की नकल में नयी कहानी लिखी थी, लेकिन इसके बावजूद मित्रा की वह फ़िल्म सुपर-फ़्लॉप ही सिद्ध हुई।

और अन्ततः के० जी० भी कई दूसरों की तरह 'फ़िल्मिस्तान' में परिधि पर घूमने वालों में शामिल हो गये। उन्हें फिर निर्देशन का मौका मिला या नहीं, या उन्होंने कैमरामैन होना ही स्वीकार कर लिया — यह मैं बिल्कुल ही नहीं जानता, क्योंकि मुझे हलका-हलका बुखार रहने लगा था, मैं स्टूडियो बहुत कम

जाता था और मैंने मुकर्जी से कह दिया था कि तीसरे वर्ष मेरे अनुबन्ध का पुनर्नवीकरण न करें और मुझे मुक्त कर दें।

दिलीप कुमार और मच्छर

इससे पहले कि मैं 'फ़िल्मिस्तान' में अपने अन्तिम दिनों के दो-एक प्रसंग लिखूँ, मुझे उन्हीं दिनों की एक घटना याद आती है, जब एक दिन सहसा शाम को दिलीप कुमार मेरे घर आये।

बात असल में यह थी कि हिमांशुराय की मृत्यु और 'बॉम्बे टॉकीज़' से मुकर्जी-गुट के अलग हो जाने के बाद यद्यपि अमिय चक्रवर्ती ने एकाध सफल फ़िल्म बनायी थी, लेकिन उन्हें टी० बी० हो गयी थी और वे पंचगनी के सैनेटोरियम में चले गये थे। उनके वापस आने के बाद सहसा सुना गया कि देविका रानी ने चार लाख में 'बॉम्बे टॉकीज़' को बेच दिया और प्रसिद्ध रूसी चित्रकार निकोलस रोरिक के चित्रकार-पुत्र स्वेतोस्लाव के साथ शादी करके चली गयीं।

मुझे याद नहीं कि देविका रानी के बाद किसने स्टूडियो खरीदा था, लेकिन इतना याद है कि साल-डेढ़ साल बाद ही उसके फिर बिकने की नौबत आ गयी। उन दिनों सुना गया था कि जयराज, जो मनमौजी और दबंग हीरो की भूमिका में उतरते थे, अभिनेता से तरक्की करके 'बॉम्बे टॉकीज़' में निर्देशक हो गये हैं और किसी फ़िल्म का निर्देशन करने जा रहे हैं। अभी उनकी फ़िल्म सेट पर गयी भी नहीं थी कि फिर कम्पनी के बिकने की अफ़वाह उड़ी।

मुझे याद है, मैं मलाड से गोरे गाँव जा रहा था। शायद मुझे कुछ देर हो गयी थी। मेरे साथ श्री रतनलाल जोशी थे, जो कहीं आगे जा रहे थे। तभी स्टेशन के बाहर जयराज आते हुए मिले। उन्होंने जोशी जी से हाथ मिलाया तो जोशी जी ने पूछा, "कहो भई, कैसे हाल-चाल हैं?"

"एकदम अनिश्चित!" जयराज ने अंग्रेज़ी में कहा। और उन्होंने बताया कि वे प्रसिद्ध हस्तरेखा-विशेषज्ञ बशीर से मिलने गये थे। उसने बताया है कि उनके लिए निर्देशन के समय अच्छा नहीं जा रहा है, यदि वे निर्देशन का मोह छोड़ कर अभिनेता के नाते दो-एक अनुबन्ध ले लें तो उन्हें लाभ होगा।

और जयराज ने हँस कर बताया कि उन्हें उस ज्योतिषी पर बहुत आस्था है, उसकी बात कभी ग़लत नहीं हुई। इसलिए उन्होंने चुपचाप दो फ़िल्मों में अभिनेता के नाते काम ले लिया है।

उन दिनों 'बॉम्बे टॉकीज़' की जैसी डाँवाडोल स्थिति थी और उसके अभिनेता, निर्देशक, कैमरामैन, साउण्ड-रिकॉर्डिस्ट, आर्ट-डायरेक्टर, आदि

कर्मचारी कैसे आशा-निराशा के बीच झूले झूल रहे थे, उसका चित्रण मैंने अपने एकांकी 'मस्केबाजों का स्वर्ग' में किया है। यहाँ इतना ही कि मेरी पत्नी मोटा-मोटा सामान ले कर लाहौर जा चुकी थी और मैं पीछे कुछ अस्वस्थ हो गया था। एक शाम मैं हल्के-से बुखार की स्थिति में अपने कमरे में पलँग पर लेटा था कि अचानक सीढ़ियों के दरवाज़े पर टिकटिक हुई।

मैंने वहीं से कहा, "आ जाइए!"

मेरी हैरत की कोई सीमा न रही, जब मैंने दूसरे क्षण दिलीप कुमार को कमरे के अन्दर पैर रखते देखा।

मैं उठ कर बैठ गया। वहाँ करीब में कोई कुर्सी तो थी नहीं। मैंने उनसे पलँग पर बैठने के लिए कहा।

लेकिन वे बैठे नहीं। वहीं खड़े रहे। उन्होंने दायाँ पैर उठा कर ज़ोर से दायाँ हाथ टखने पर मारा और बोले, "मैं बैठूँगा नहीं, मैं सीधे स्टूडियो से आ रहा हूँ। बात यह है कि आज मेरे मित्र (और उन्होंने किसी बड़े मुसलमान सेठ का नाम लिया) स्टूडियो आये थे। वो 'बॉम्बे टॉकीज़' खरीद रहे हैं। उन्होंने मुझसे अपना यूनिट बनाने को कहा है और यह भी कहा है कि कल शायद वे कम्पनी खरीद लेंगे और मुझे 'बॉम्बे टॉकीज़' की अगली फ़िल्म डायरेक्ट करनी होगी।"

और बात खत्म करते-करते उन्होंने बायाँ पैर उठा कर बायें हाथ से एक चपत टखने पर जमा दी। मैंने उन्हें बधाई दी और इस स्थिति पर प्रसन्नता प्रकट की।

दिलीप कुमार मेरे कमरे में ज़्यादा-से-ज़्यादा सात-दस मिनट रहे होंगे। उनके छोटे भाई कुछ कहानियाँ-वग़ैरा लिखते थे, उनसे मेरा परिचय भी था। दिलीप कुमार मुझसे यह कहने आये थे कि कहानी तो वे अपने भाई से लेंगे, लेकिन अगर मैं 'फ़िल्मिस्तान' छोड़ रहा हूँ तो 'बॉम्बे टॉकीज़' में आ जाऊँ और सम्वाद वग़ैरह के सिलसिले में उनकी मदद करूँ। तन्खाह वे मुझे 'फ़िल्मिस्तान' की अपेक्षा ज़्यादा दिलवा देंगे।

मैं समझ गया कि कहानी वग़ैरह भी मुझे ही लिखनी पड़ेगी और नाम उनके भाई का जायगा, क्योंकि उनके भाई कैसी कहानी लिखते थे, यह मैं अच्छी तरह जानता था।

मुझे याद नहीं, मैंने उन्हें क्या जवाब दिया था। हो सकता है, कहा हो कि वे चाहेंगे तो मैं आ जाऊँगा, अथवा अपनी बीमारी का बहाना कर दिया हो। लेकिन इतना मुझे याद है कि जितनी देर वे खड़े रहे, बराबर कभी दायाँ पैर उठा कर उस पर चपत मारते, कभी बायाँ उठा कर उस पर! आखिर उनसे रहा नहीं गया। उन्होंने कहा, "आपके यहाँ बहुत मच्छर हैं।"

मैंने हँस कर कहा, "लेकिन ये मुझको नहीं काटते, मेरे खून में इतना ज़हर है कि मच्छर काटते हैं तो मर जाते हैं।"

इस पर वे फ़रमायशी ढंग से हँसे और चले गये।

दूसरे ही दिन मुझे मालूम हुआ कि कम्पनी किसी हिन्दू सेठ ने खरीद ली है और कोई गुजराती आर्ट-डायरेक्टर उसका कण्ट्रोलर ऑफ़ प्रोडक्शन्ज़ हो गया है।

गीत की दुर्गत

'मण्टो : मेरा दुश्मन' में इस बात का मैंने बड़े विस्तार से ज़िक्र किया है कि किस प्रकार अशोक कुमार मुझसे कहानी लिखवाना चाहते थे, जिसे वे स्वयं डायरेक्ट कर सकें, लेकिन जब मण्टो को पता चला कि वे कहानी के लिए मेरे पास आये हैं, तो उसने साउण्ड-रिकॉर्डिस्ट वाचा को साथ मिला कर मेरा पत्ता काट दिया और स्वयं कहानी लिखी। मैं यह भी लिख चुका हूँ कि किस प्रकार मैंने मण्टो को परेशान करने के लिए उसी फ़िल्म में एक रोल ले लिया और उसे इतना परेशान किया कि हाया-पाई की नौबत आ गयी।

उस फ़िल्म का नाम 'आठ दिन' था और उसमें मैंने पण्डित तोताराम की भूमिका अदा की थी।

जो घटना मैं लिखने जा रहा हूँ, यह उस घटना के पहले की है या बाद की, मुझे याद नहीं। बस इतना याद है कि अशोक के लिए मण्टो ने कहानी लिख दी थी, उसकी शूटिंग शुरू हो गयी थी। अशोक उसे डायरेक्ट कर रहे थे। एस० डी० बर्मन, जो नये-नये 'फ़िल्मिस्तान' में आये थे, उसका संगीत-निर्देशन करने जा रहे थे। तभी एक दिन मैं अपने कमरे में बैठा कुछ काम कर रहा था कि मण्टो मेरे पास आया उसने कहा, "अश्क, अशोक चाहते हैं कि तुम उनके लिए एक गीत लिख दो!"

"पास कौन करेगा?" मैंने पूछा।

"अशोक, और कौन!" मण्टो ने अपनी बड़ी-बड़ी मोटी आँखें हैरत में फैला दीं, "उसे पसन्द आ गया तो मुकर्जी को झख मार कर पसन्द करना पड़ेगा।"

और उसने बताया कि अशोक और मुकर्जी में कुछ तनाव है, और वे सब अशोक के साथ हैं। 'वे सब' से मण्टो का मतलब वाचा, पाई, जगताप, आदि से था।

मुझे मण्टो की बात का विश्वास तो नहीं आया कि अशोक इतने शक्तिशाली और समर्थ हो गये हैं कि मुकर्जी की बात न मानें, पर जब मण्टो ने ज़ोर दिया तो मैं गीत लिखने को तैयार हो गया। वास्तव में मुकर्जी यह नहीं चाहते थे कि

'फ़िल्मिस्तान' में अशोक को नायक से ज्यादा कोई महत्व मिले, लेकिन अशोक शायद स्वयं निर्देशक और प्रोड्यूसर होना चाहते थे। यह भी हो सकता है कि उनके साथ उठने-बैठने वाले और चग पर चढ़ाने वाले (मण्टो, वाचा, पाई, आदि) ने उनके मन में यह बात डाल दी हो। बहरहाल, चूंकि वे मुकर्जी के साले थे और 'फ़िल्मिस्तान' में उनका हिस्सा था, इसलिए मुकर्जी मान तो गये, लेकिन जिस तरह मण्टो और उनके दोस्त अशोक को घेरे रहते थे और स्टूडियो के दूसरे कर्मचारी उन्हें महत्व देने लगे थे, मुझे लगता है, वह मुकर्जी को अच्छा नहीं लगा। मैं यह भी समझता हूँ कि सिर्फ़ उनको परेशान करने के लिए मुकर्जी सन्तोषी को ले आये और अशोक से कहा कि ये तुम्हारी पिक्चर के लिए गीत लिखेंगे।

'बॉम्बे टॉकीज' के जमाने में मुकर्जी, सन्तोषी और शाहिद लतीफ़ का तिगड्डा हिट फ़िल्में बनाने के लिए बहुत मशहूर हुआ था। सन्तोषी कहानी भी लिखते थे गीत भी लिखते थे और निर्देशन भी करते थे। उनका गाना :

आना मेरी जान मेरी जान सण्डे के सण्डे

हिट हुआ था। लेकिन मण्टो सन्तोषी से डरता था, क्योंकि 'फ़िल्मिस्तान' से उन्हें भगाने में मण्टो ने काफ़ी अहम रोल अदा किया था और उसे भय था कि सन्तोषी आ कर कहीं उसका ही पत्ता न काट दें।

बहरहाल, मण्टो मुझे अशोक के पास ले गया और अशोक ने मुझे प्रसंग समझाया कि चन्द फ़ौजी मोर्चे से लौटे हैं और छुट्टी पर अपने वतन को जा रहे हैं। गाड़ी के डिब्बे की खिड़की से बाहर देहात के नज़ारे देखते हुए उन्हें अपने गाँव के दृश्यों की याद आती है। तभी नायक गाना शुरू करता है और उसके साथी उसके बोल आगे बढ़ाते हैं।

अशोक ने मुझे बताया कि वे नहीं चाहते कि पहले ऑर्केस्ट्रा शुरू हो और फिर गाना चले। वे चाहते हैं कि नायक के हाथ में माचिस की आधी भरी डिबिया रहे, जिसे वह मौज में आ कर सहसा दायें हाथ की दो उँगलियों और अँगूठे में पकड़ कर हिलाने लगे। पहले माइक पर डिबिया की आवाज आये, फिर उसके साथ गाड़ी की खट-खटा-खट मिल जाय और तब वह उमंग में गाने लगे।

सिचुएशन बता कर अशोक ने कहा कि आप बर्मन (सचिन देव) से मिल लीजिए। वे कोई ट्यून बता देंगे, उस पर बोल फ़िट कर दीजिए।

मण्टो मुझे बर्मन के पास ले गया। पतले-छरहरे, गोरे-चिट्टे, असमी नैन-नक्श और बहुत धीमे बोलने वाले – बर्मन साहब म्यूजिक रूम में बैठे थे। उन्होंने मुझे कई ट्यूनें सुनायीं। अनावृष्टि के दिनों में खुदा से वर्षा की प्रार्थना का एक लोक-गीत, जिसे बच्चे मिल कर गाते हैं : 'अल्ला मेघ दे, पानी दे,' मुझे बहुत अच्छा

लगा। लेकिन जो सिचुएशन अशोक ने बतायी थी, उसके लिए मुझे कोई ट्यून उपयुक्त नहीं लगी। मेरे दिमाग़ में तभी एक पंजाबी लोक-गीत आ गया और मुझे लगा कि अगर मैं उस पर बोल फ़िट करूँ तो बहुत अच्छा होगा।

मैंने मण्टो से कहा कि मैं सिचुएशन भी समझ गया हूँ और मेरे दिमाग़ में एक पंजाबी ट्यून आयी है और मैं समझता हूँ कि गीत लिखूँगा तो बर्मन साहब को पसन्द आ जायगा और अशोक को भी। तुम मुझे सिर्फ़ एक दिन की मोहलत दो।

मण्टो ने कहा, "ठीक है, तुम एक दिन ले लो। लेकिन कल जरूर ले आना। मैं चाहता हूँ, इससे पहले कि सन्तोषी कोई गीत लिखे, तुम्हारा गीत अशोक को पसन्द आ जाय और उसे रिकॉर्ड भी कर लिया जाय।"

०

उस शाम मैं स्टूडियो से पैदल ही मलाड के लिए चल पड़ा। चार-पाँच मील का फ़ासला होगा। मैं कई बार शाम को मैं 'घोड़बन्दर रोड' पर सैर करता हुआ मलाड पहुँच जाता था। विशेषकर उस शाम, जब मुझे कुछ सोचना भी रहता।

आज तो घोड़बन्दर रोड का चप्पा-चप्पा इमारतों से पट गया है, लेकिन उन दिनों उस सड़क पर कुछ बँगले गोरे गाँव की ओर थे और कुछ मलाड की ओर, बाकी सारा रास्ता सूना और नारियलों के पेड़ों से भरा था। बस दो-एक जगह बीच में नारियल के पत्तों से ढकी चालें थीं, जहाँ मज़दूर लोग रहते थे।

श्री बर्मन द्वारा बंगाल की लोक-धुनें सुनते हुए जो पंजाबी लोक-गीत मेरे दिमाग़ में आया था, वह बहुत लोकप्रिय था और मेरे बचपन में, मीठे सुरीले कण्ठ वाली मीरासिनें जन्म, मुण्डन और तीज-त्योहार पर आ कर ढोलक पर उसे गाती थीं तो उनके सुरीले कण्ठों के बोल गलो-मुहल्लों को गुंजा देते थे :

पिण्डाँ विच्चों पिण्ड सुनींदा,
पिण्ड सुनींदा मोगा।
ओथे दा इक साधु सुनींदा,
ओह् वी जग विच शोभा
आँदी-जाँदी नूँ घड़ा चुकावे,
लक्क विच मारे गोड्डा
नी लक्क तेरा पतला जेहा भार सहन न जोगा
गड़वी पा मित्तरा कूँजाँ मरण तिहाइयाँ

मुझे बचपन से पंजाबी लोक-गीतों का बहुत शौक रहा है और मुझे दसियों लोक-गीत कण्ठस्थ हैं। हालांकि मेरे पिता के कण्ठ में तो अमृत था, वे बहुत ही ऊँची लोच और सोज़-भरी आवाज़ में गाते थे, लेकिन उनका स्वर हम छै भाइयों

में से किसी को नहीं मिला। लेकिन शाम का सन्नाटा था। कोई दूसरा सुनने वाला न था। मैं धीरे-धीरे गीत का दूसरा बन्द गाने लगा :

पिण्डाँ विच्चों पिण्ड सुनींदा
पिण्ड सुनींदा माड़ी
ओत्थे वियाँ वो नाराँ सुनींदियाँ
इक पतली इक भारी
पतली दा जद ब्याह जा होया
भारो रही कुंवारी
ते आप्पे ले जाणगे
जिन्हाँ नूं लग्गे प्यारी

इस गीत को गुनगुनाते-गुनगुनाते अशोक द्वारा दो गयी सिचुएशन के अनुसार हिन्दी गीत के बोल आपसे आप मेरे होंटों पर आ गये।

खट-खटा-खट करती गाड़ी अब वतनों को जाये
याद हाय पारो की अब दिल को मेरे तड़पाये
गोरी-गोरी नारियाँ देखीं
देश-विदेशों घूमे
भूले नहीं वो होंट गुलाबी
अपने देस जो चूमे
रस भरे होंटों की, पल पल याद सताये
खट-खटा-खट करती गाड़ी अब वतनों को जाये
देखो देखो, वो पेड़ के नीचे
बैठे छोरा-छोरी
शर्त लगाता हूँ मैं तुमसे
निकले घर से चोरी
चोरी निकलना रे – मोहे संग गोरी के भाये
खट-खटा-खट करती गाड़ी अब वतनों को जाये

इस गीत का अन्तिम बन्द था :

खेत बाग़ बेले वीराने
गाँवों की वो गलियाँ
उनमें होंगे यार पुराने,
हँसी खुशी रँगरलियाँ
बाद कई वर्षों के फिर समय सुहाने आये
खट-खटा-खट करती गाड़ी अब वतनों को जाये

दूसरे दिन मैंने मण्टो को यह गीत सुनाया। इसमें दो-तीन चुलबुले बन्द भी थे। मैंने उसे समझाया कि अस्थायी में यह व्यवस्था है कि जब नायक उसकी दूसरी पंक्ति गाता है :

याद हाय पारो की अब दिल को मेरे तड़पाये

तो उसके साथी सिपाही एक-एक कर इस बन्द को दुहराते हुए अपनी प्रेमिकाओं की याद करते हैं और फिर सब मिल कर अस्थायी गाते हैं।

मण्टो को गीत पसन्द आया। हम दोनों बर्मन साहब के पास गये। मेरा स्वर बहुत अच्छा तो नहीं, फिर भी मैंने किसी तरह पंजाबी ट्यून गा कर सुनायी और समझायी। बर्मन साहब ने चन्द मिनटों में ट्यून बना दी और गा कर भी सुना दी और समाँ बाँध दिया।

मण्टो जा कर अशोक कुमार को बुला लाया। उन्होंने गीत भी पसन्द कर लिया और ट्यून भी। फिर ज्ञान मुकर्जी, वाचा, पाई – जितने भी महत्वपूर्ण लोग थे, मण्टो बारी-बारी सबको ले आया और सब ने गीत और ट्यून की दाद दी।

तब मण्टो ने मुझसे कहा कि मैं उसके साथ मुकर्जी के पास चलूँ और जा कर यह गीत सुनाऊँ। मैंने इनकार कर दिया। मैंने कहा, "तुमने मुझे गीत लिखने को कहा, मैंने लिख दिया। अशोक को पास कराने की सनद थी, मुकर्जी को नहीं। तुमने अगर पहले कहा होता कि गीत मुकर्जी पास करेंगे तो मैं नहीं लिखता, क्योंकि मैं जानता हूँ कि मुकर्जी इसको पास नहीं करेंगे।"

लेकिन मण्टो का खयाल था कि जब सारे स्टूडियो ने गीत पसन्द कर लिया है तो मुकर्जी झख मार कर पसन्द करेगा। उसने लाख ज़ोर दिया। लेकिन मैं नहीं गया। मैंने कहा, "तुम मुकर्जी से कह दो, सबको गीत पसन्द है और सुनवा दो, लेकिन मैं नहीं जाऊँगा।"

और मैं नहीं गया।

मैं नहीं जानता फिर क्या हुआ। मैं सिर्फ़ इतना जानता हूँ कि गीत मुकर्जी ने सन्तोषी का ही लिया। और तभी मुझे मालूम हुआ अशोक कितना कमज़ोर आदमी है। वरना जब गीत उसे पसन्द था और पिक्चर वह डायरेक्ट कर रहा था, वह अड़ जाता तो मुकर्जी मान जाते, लेकिन वर्षों की आदत एक दिन में कैसे बदल जाती? 'फ़िल्मिस्तान' में मुकर्जी की राय आखिरी राय थी।

मुझे जब मालूम हुआ तो पहली बार इस बात की खुशी हुई कि मैंने मण्टो का कहना नहीं माना। मैं मुकर्जी के पास जाता तो अपने गीत की तारीफ़ में सिवा दो-चार नायाब 'प्रशंसाएँ' सुनने के और कुछ हाथ नहीं आता।

सिर्फ़ एक सुखद स्मृति

'फ़िल्मिस्तान' के दो वर्षों की मुलाज़मत में मुकर्जी सम्बन्धी मेरी स्मृतियाँ खासी कटु हैं। सिर्फ़ एक स्मृति ऐसी है, जिसे मैं सुखद कह सकता हूँ और जिससे मालूम होता है कि उस व्यक्ति में कहीं मानवोचित करुणा भी थी और वह चाहता तो खासा सहृदय हो जाता था।

०

यदि मैंने किशोर साहू की पिक्चर के लिए सम्वाद लिखना स्वीकार कर लिया होता तो सामान्यतः तीसरे वर्ष के लिए भी मेरे अनुबन्ध का नवीकरण होता और यह भी सम्भव है कि मैं 'सिन्दूर' में कोई भूमिका भी करता। लेकिन चूँकि सिद्धान्त की बात आ पड़ी, इसलिए मैं अड़ गया। मेरा स्वास्थ्य गिरने लगा था और मुझे लगता था कि अगर मैं तीसरे वर्ष भी अनुबन्ध करता हूँ तो बहुत बीमार हो जाऊँगा। इसके अलावा अर्धचेतन में मुझे यह भी लगता था कि अगर मैं एक वर्ष और नौकरी करता हूँ तो मुकर्जी मुझे ज़लील करने का कोई-न-कोई मौका निकाल ही लेंगे। उस वक्त तक मैं किसी-न-किसी तरह अपने आपको बचाता आया था। लेकिन नौकरी तो नौकरी है, यदि बॉस के हाथ में अतुल शक्ति हो, ऊपर से वह बद हो या सैडिस्ट हो या मुलाज़िम से खार खाता हो तो वह कोई-न-कोई अवसर तो मुलाज़िम को ज़लील करने के लिए निकाल ही सकता है, इसलिए मैं इज्ज़त के साथ 'फ़िल्मिस्तान' छोड़ देना चाहता था।

जब मैंने के० जी० के लिए 'जेण्डा का कैदी' का फ़िल्मी रूपान्तर कर दिया और मुझे कम्पनी के सेक्रेट्री से पता चल गया कि वह कहानी नहीं बनेगी तो कुछ दिन बाद मैंने एक दिन मुकर्जी से कहा कि यदि आप मुझे तीसरे साल के लिए भी रखना चाहेंगे तो मैं इनकार तो नहीं करूँगा, लेकिन बम्बई का जल-वायु मुझे रास नहीं आया, मेरी सेहत कुछ गिर रही है, यदि आप मेरा अनुबन्ध फिर से जारी न करें तो मैं बहुत शुक्रगुज़ार हूँगा।

मुकर्जी ने मेरी बात सुन ली। न 'हाँ' की न 'ना' और दो-तीन महीने मैं असमंजस में लटका रहा।

सवाल यह पैदा होता है कि अगर मैं परेशान था, तो मैंने त्याग-पत्र क्यों नहीं दिया?....त्याग-पत्र तो मैं जेब में डाले रखता था और दफ़्तर में बैठ कर ज़्यादातर अपनी रचनाओं पर ही काम करता था। और शाम को देवधर हॉल (सैण्डहर्स्ट रोड) जा कर अपने नाटक का पूर्वाभ्यास कराता था। सिवा थोड़ी सेहत की खराबी और मुकर्जी द्वारा ज़लील किये जाने की आशंका के मुझे कोई वैसी परेशानी

न थी। मैंने उन दिनों फ़िल्मी ज़िन्दगी पर एक उपन्यास शुरू किया था। अगर मेरे अनुबन्ध का नवीकरण होता और मुकर्जी मुझे भी परिधि पर बैठा देते तो मैं मज़े से उसे लिखता रहता।

वास्तव में न मैं त्याग-पत्र देना चाहता था, न आगे काम करना। त्याग-पत्र से मैं इसलिए बचता था कि दो फ़िल्मों में अभिनय के खाते मेरा कम-से-कम ढाई हज़ार रुपया कम्पनी की ओर था। चूँकि मैं कम्पनी का मुलाज़िम था, इसलिए उसे देना-न-देना मुकर्जी की इच्छा पर निर्भर था। मैं त्याग-पत्र देता तो वे कभी मेरा रुपया न देते। लेकिन अब यदि वे मेरा अनुबन्ध पुनर्नवीकृत न करते तो उसके मिलने की एक आशा थी।

०

नवम्बर में मुझे परेरा ने बता दिया कि आप के अनुबन्ध का नवीकरण नहीं होगा। उसने तो यह खबर बड़े अफ़सोस के साथ सुनायी, लेकिन मैं बहुत खुश हुआ। अपने बड़े भाई को मैंने उसी वक्त लिखा कि मैं लाहौर आने और वहाँ स्वतन्त्र प्रकाशन शुरू करने की सोच रहा हूँ। मेरी फ़ाइलों में 'भारती भण्डार' लीडर प्रेस के व्यवस्थापक श्री वाचस्पति पाठक के नाम भी इस अभिप्राय का एक पत्र पड़ा है। अपनी आदत के मुताबिक मैंने अन्य मित्रों को भी वैसे पत्र लिखे होंगे।

बहरहाल, जब पक्का हो गया कि मुकर्जी मुझ पर अनुबन्ध के नवीकरण के लिए ज़ोर नहीं देंगे तो मैंने पत्नी को मोटा-मोटा सामान दे कर भाई के पास लाहौर भेज दिया और मन लगाने को अपना एकांकी 'तूफ़ान से पहले' (जो मैंने उन्हीं दिनों हिन्दू-मुस्लिम दंगों पर लिखा था) 'इप्टा' के मंच पर खेलवाने की तैयारी करने लगा। मैं स्टूडियो से सीधा देवधर हॉल जाता। वहाँ नाटक का पूर्वाभ्यास कराता और फिर घर लौटता। तबियत तो मेरी कुछ ढीली थी ही, इस में शरीर पर ज़्यादा ज़ोर पड़ गया, खाने-पीने में भी अनियमितता हो गयी और दिसम्बर की एक शाम मैं वापस आते-आते भीग गया। वायु-शूल की शिकायत तो मुझे पहले ही से थी, अब हल्का-हल्का बुखार रहने लगा। मेरे यहाँ उन दिनों हैदराबाद का एक मुसलमान युवक सईद रज़ी आया हुआ था और उर्दू मसौदों की प्रतिलिपि तैयार करने में मेरी सहायता करता था। उसने मेरी पत्नी को तार दे दिया कि वह तत्काल चली आये।

जब मैं दिसम्बर १९४६ की पहली तारीख को अपने अन्तिम महीने की तनख्वाह लेने स्टूडियो गया तो वेतन लेने के बाद मैंने दफ़्तर से दो फ़िल्मों में अभिनय के खाते ढाई हज़ार रुपये की माँग भी की।

(जब 'मज़दूर' में मेरा अभिनय पक्का हो गया था तो मैंने मुकर्जी से बात की थी और कहा था कि मैं अभिनेता के रूप में मुलाज़िम नहीं हूँ; मुझे उस खाते, जो भी कम-से-कम कम्पनी देती हो, मिलना चाहिए। तय यह हुआ था कि जिस

दिन मेरा काम हो, मैं स्टूडियो के टाइम कीपर क्लर्क को बता दूँ और वह मेरी हाज़िरी लिख लेगा और पच्चीस रुपये उस दिन के खाते में मेरे नाम दर्ज हो जायेंगे। बाद में हिसाब हो जायगा।

स्टूडियो का टाइम कीपर गोरे रंग, तीखे नाक-नक्शे वाला, हल्के दोहरे बदन का युवक था। उसकी सूरत तो मुझे आज भी याद है, यद्यपि मैं उसका नाम भूल गया हूँ। वह बहुत भला था और मुझे बहुत मानता था। शूटिंग हो-न-हो, जिस दिन मेरा मेकप होता – भले ही मैं अपने कमरे में बैठा अपना काम करता रहूँ और मेरे सीन के शूट होने की नौबत न आये – वह मेरा नाम दर्ज कर लेता था। इसी हिसाब से ढाई हज़ार रुपये होते थे। इस दौरान न मैंने माँगे थे, न कम्पनी ने दिये थे।

दफ़्तर वालों ने मुझसे कहा कि मुकर्जी ही दे सकते हैं। और कोई नहीं दे सकता। मैं रायबहादुर से मिला तो उन्होंने भी कहा कि जब मुकर्जी से बात हो चुकी है तो आप उनसे मिलिए। उस दिन मैंने स्टूडियो में जिससे भी बात की, उसने यही कहा कि मुकर्जी निहायत खबीस और ज़ालिम आदमी है, आप से वह हमेशा नाराज़ रहा है, वह कभी आपको ये रुपये नहीं देगा।

लेकिन मैं तो बहुत पहले से तय किये बैठा था कि रुपया तो मैं सारा ले कर रहूँगा। सो दूसरे दिन मैं ज़रा देर से मुकर्जी के घर पहुँचा। मुकर्जी स्टूडियो जा चुके थे। उनकी पत्नी को मैंने स्वास्थ्य की स्थिति बतायी और कहा कि मेरे रोग का निदान नहीं हो पा रहा, मुझे हस्पताल में दाखिल होना है। मेरा ढाई हज़ार कम्पनी की ओर है। कम्पनी मेरा अनुबन्ध तो जारी नहीं कर रही, मेरी मेहनत का रुपया तो मुझे मिलना चाहिए। मुकर्जी ही दिला सकते हैं; आप उनसे कहिए कि दिला दें। मैं बहुत एहसान मानूँगा।

मेरे चेहरे में यह गुण या दोष है कि मैं बीमार होऊँ, दो-तीन दिन शेव-एव न करूँ तो लगता है कि न जाने कब से बीमार हूँ, लेकिन ज़रा ठीक होऊँ, शेव-शाव कर लूँ और क्रीम-ब्रीम लगा लूँ तो अपनी उम्र से पाँच-दस वर्ष कम लगता हूँ। मुकर्जी के घर मैं दाढ़ी बढ़ाये हुए गया था। उनकी पत्नी बहुत ही दयामयी थीं। वे दयार्द्र हो आयीं। उन्होंने कहा कि वे मुकर्जी से कहेंगी।

इस बीच मेरी पत्नी आ गयी। 'बाम्बे टॉकीज़' के आर्ट-डायरेक्टर और हमारे पड़ोसी चौरडिया साहब के० ई० एम० के डॉक्टर सेठ को ले आये (जो बाद में वहाँ फ़ार्माकालोजी विभाग के अध्यक्ष बने और हम पर हमेशा मेहरबान रहे।) उन्होंने तत्काल हस्पताल में दाखिल होने की राय दी।

दूसरे दिन मैं सुबह फिर मुकर्जी के पास पहुँचा। यद्यपि मैं शेव तो बना गया था। लेकिन मुझे लगातार ज्वर था, गाल पिचके और होंट सूखे थे। मुकर्जी को मैंने सारी स्थिति बतायी और कहा – मुझे इस वक्त भी बुखार है, लेकिन बिना आपके आदेश दिये मुझे रुपया नहीं मिल सकता। ढाई हज़ार का सवाल है, इसलिए आया हूँ।

मुकर्जी ने एक नज़र मेरे उतरे हुए चेहरे की ओर डाली और मैं हैरान रह गया, जब उन्होंने बड़े ही स्नेह-भरे स्वर में कहा, "अरे, आप बुखार में क्यों आये, एक पत्र लिख कर भेज देते, मैं रुपये भिजवा देता। चलिए, मेरे साथ कार में स्टूडियो, मैं अभी आपको रुपये दिलवा देता हूँ।"

और वे नीचे उतरे। गैराज से उन्होंने कार निकाली, मुझे अपने साथ बैठाया और सान्ताक्रूज़ से गोरे गाँव स्टूडियो लाये। दफ़्तर में जा कर उन्होंने मुझे पूरा रुपया देने के लिए कहा, मेरी पीठ हल्के से थपथपायी, मेरे जल्दी स्वस्थ होने की कामना की और मुझे वहीं दफ़्तर में छोड़ कर चले गये।

घर आने से पहले बावजूद कमज़ोरी के मैं दोस्तों से मिला। मैंने सबको यह बात बतायी। जिस-जिस से मैंने कहा, उसने आश्चर्य प्रकट किया। लोगों को विश्वास ही न होता था कि मुकर्जी मुझे अपने साथ स्वयं कार में लाये और मेरा सारा रुपया दिला दिया।

मुकर्जी के सम्बन्ध में जहाँ दसियों कटु स्मृतियाँ मेरे दिमाग़ के पर्दे पर नक्श हैं, वहाँ यह सुखद स्मृति भी जैसे मोटी स्पष्ट रेखाओं में अंकित है।

❋❋

एक स्वेच्छाचारी और कैप्रिशस प्रोडयूसर

'फ़िल्मिस्तान' की मुलाजमत के दिनों की स्मृतियों पर पटाक्षेप करने से पहले मैं शशधर मुकर्जी का जायज़ा लेना चाहूँगा — विशेषकर अब, जब हमारे बीच तीन दशकों का अन्तराल है और मेरे मन में भी वैसी कटुता नहीं रही।

जब-जब मैंने अपने मित्रों में मुकर्जी सम्बन्धी अपने संस्मरण सुनाये हैं, दोस्तों ने हैरत प्रकट की है कि जब मुकर्जी इतना जाबिर, ज़ालिम, पर-यन्त्रणाप्रिय आदमी था तो कैसे मैं दो वर्ष तक 'फ़िल्मिस्तान' में नौकरी कर सका और जब वह 'गुलामों का दारोग़ा' कहलाता था और बड़े-बड़ों की लुगदी बना देता था, मैं कैसे उसकी गुलामी से बच कर लगभग सही-सालम चला आया।

हालाँकि मैं अपने संस्मरणों में यथास्थान उन कारणों की ओर कुछ-न-कुछ संकेत देता आया हूँ, लेकिन इससे पहले कि मैं इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डालूँ, मैं एक सामान्य बात अपने किरदार के बारे में बताना चाहूँगा। मैंने जब-जब बिना जाने-परखे किसी से सम्बन्ध बनाया है अथवा बिना सोचे-समझे किसी को अपना विश्वास सौंपा है — मैंने हमेशा मार खायी है। अपनी पुस्तक — चेहरे : अनेक — का एक पूरा खण्ड मैंने ऐसी मूर्खताओं के बारे में लिखा है, लेकिन यह भी सच है कि जब मैंने दूसरे को जान-समझ कर कोई सम्बन्ध बनाया, मुझे ज़्यादा तकलीफ़ नहीं हुई। ख़राश ऐसे मामलों में आ जाना, विशेषकर मेरे जैसे अति

भावप्रवण व्यक्ति को, सहज-स्वाभाविक है; पर कोई गहरा घाव कभी नहीं लगा, जो बाद में टीसता रहा हो।

'फ़िल्मिस्तान' में मुझे मुकर्जी ने तो बुलाया नहीं था। बुलाया था — मण्टो ने, जो मेरा शत्रु था और जो मेरे ही कारण दिल्ली से अपनी नौकरी छोड़ कर भाग गया था। इसलिए मैंने 'फ़िल्मिस्तान' को नौकरी पूरी खोज-बीन के बाद शुरू की थी। वहाँ मुकर्जी मुझे बिल्कुल नहीं जानते थे, उन्होंने मेरे बारे में सिर्फ़ इतना सुन रखा था कि अश्क एक खतरनाक आदमी है। लेकिन वह कैसे खतरनाक है, कहाँ खतरनाक है, यह उनको मालूम नहीं था। जबकि मैं उनके किरदार के हर पेचो-खम से अभिज्ञ था। ज़ाहिर है कि तब मैंने हर कदम पर इस बात का खयाल रखा कि मुकर्जी मुझे ज़लील न कर सकें।

तीन छोटी सावधानियाँ

मुकर्जी हिट फ़िल्मों के प्रोडयूसर कहलाते थे, लेकिन उनके शूटिंग के ढंग को देख कर कभी किसी ने कहा था कि उस तरह तो एक गधा भी हिट पिक्चर बना सकता है। वे हज़ारों-हज़ार फ़ुट फ़िल्म शूट करते थे, फिर सम्पादन की मदद से उसमें से मनोरंजक अंश निकाल लेते थे। चूंकि 'फ़िल्मिस्तान' का एडीटर दत्ताराम पाई कुशल सम्पादक था और मुकर्जी की पसन्द को खूब समझता था, इसलिए वह इस काम को बड़े कुशलतापूर्ण ढंग से करता।

मुकर्जी को हिट फ़िल्मों के सारे फ़ार्मूले आते थे। उन्होंने मुझे भी एलन विल्किसन की पुस्तक पढ़ने का परामर्श दिया था, जिसमें संसार की प्रसिद्ध हिट फ़िल्मों की कहानियाँ दी गयी थीं। लेकिन मुझे फ़िल्मों में जमना नहीं था। इसलिए मैंने परवाह नहीं की। यद्यपि पुस्तक वह आज भी मेरी लायब्रेरी में पड़ी है।

इस बात के अलावा तीसरी (और मेरे निकट महत्वपूर्ण) बात यह थी कि 'बॉम्बे टॉकीज़' के दिनों में मुकर्जी के पास बहुत अच्छी टीम थी — लोकप्रिय नायक-नायिका के रूप में अशोक कुमार और देविका रानी; पापुलर नर्तक के रूप में मुमताज अली; प्रसिद्ध हास्य-अभिनेता वी० एच० देसाई; सिद्ध गीतकार प्रदीप; कहानी और सम्वाद-लेखक के रूप में ज्ञान मुकर्जी, सन्तोषी और शाहिद लतीफ़ और साउण्ड रेकॉर्डिस्ट वाचा, आदि...लेकिन जब उन्होंने 'फ़िल्मिस्तान' की स्थापना की तो न उनके पास देविकारानी थी और न मुमताज अली। रहे प्रदीप तो उन्होंने जान-बूझ कर उन्हें काट दिया। सन्तोषी और शाहिद मण्टो के कारण कम्पनी छोड़ गये। इसीलिए मुकर्जी कुछ वर्षों तक कोई हिट पिक्चर नहीं बना पाये।

जैसा कि मैंने 'मण्टो : मेरा दुश्मन' में लिखा है, 'फ़िल्मिस्तान' में अनुबन्ध पर हस्ताक्षर करने से पहले मैंने मुकर्जी की आदत के तमाम पेचो-खम तथा 'फ़िल्मिस्तान' की कार्य-प्रणाली के बारे में गहराई से खोज-बीन कर ली थी। फिर जब तक 'मज़दूर' की शूटिंग शुरू न हो गयी और मेरे लिखे दृश्य फ़िल्माये नहीं गये, मैंने अपने काम और नौकरी को कच्चा ही समझा और मुकर्जी की स्वेच्छाचारिता को जानते हुए उन्हें ज़्यादा नाराज़ नहीं किया। अनौपचारिक ढंग से उनके आवाज़ देने और यों चम्मी होने की कोशिश तो मैं पहले ही काट चुका था। लेकिन नहीं चाहता था कि मुकर्जी समझें, मैंने जान-बूझ कर वैसा किया था। मैं उन्हें इसी भ्रम में रखना चाहता था कि मैंने यही समझा, वे चपरासी को आवाज़ दे रहे हैं। मुकर्जी इतने मूर्ख नहीं थे कि वे न समझते। वे बख़ूबी समझ गये थे। क्योंकि फिर उन्होंने कभी मुझे वैसे नहीं बुलाया, लेकिन मैं वह भ्रम बनाये रखने में ही ख़ैर समझता था और अत्यधिक विनम्र बना रहता था—विनम्र और औपचारिक!

मुझे शाहिद लतीफ़ ने बताया था (और बाद में कानु राय ने इसका समर्थन किया) कि मुकर्जी अपनी पत्नी से बहुत दबते हैं। घर के बाहर जिन्दगियाँ बिताने वाले यों भी अपनी पत्नियों को प्रसन्न रखते हैं। सो मुकर्जी से निबटने के लिए मैंने तीन सामान्य सावधानियों से काम लिया।

सबसे पहली सावधानी मैंने यह बरती कि मिसेज़ मुकर्जी के मन में अपने लिए थोड़ा स्नेह-सम्मान पैदा किया। मुकर्जी के सचिव से मुझे मालूम हुआ था कि मिसेज़ मुकर्जी हिन्दी पढ़ लेती हैं। मुकर्जी तब सान्ताक्रूज़ के एक बँगले की पहली मंज़िल पर रहते थे। सीढ़ियाँ काफ़ी बड़े, खुले, छते बरामदे में खुलती थीं। वहाँ एक दीवान था, आराम-कुर्सियाँ थीं और एक ओर छत से झूला लगा रहता था। तब तक हिन्दी में मेरा एक उपन्यास, एक कहानी संग्रह, एक नाटक और दो कविता संग्रह छप चुके थे। सो मैं पहले नाटक और उपन्यास ले कर एक सुबह मुकर्जी के यहाँ पहुँचा (उस वक्त मुकर्जी स्टूडियो जा चुके थे। यह सलाह मुझे मुकर्जी के सचिव ने दी थी) और मिसेज़ मुकर्जी से भाभी का रिश्ता बनाते हुए मैं उन्हें दोनों किताबें भेंट कर आया।

भाभी दोहरे शरीर की सुन्दर, सौम्य और सहृदय महिला थीं। अशोक की बहन थीं, सो जवानी में सुन्दर रही होंगी। उमर तो उनकी तीस-पैंतिस से ज़्यादा न रही होगी, लेकिन पाँच बच्चे थे, चिन्ता-फ़िक्र थी नहीं। थोड़ा पसर गयी थीं और पाँच बच्चों की माँ लगती थीं। मेरी जितनी पुस्तकें तब तक छपी थीं, मैं एक-एक, दो-दो करके उन्हें भेंट कर आया। वे हमेशा हँसते माथे मिलतीं, मुस्कराते हुए किताबें लेतीं, पढ़तीं और जब दूसरी बार जाता तो अपनी पसन्द बतातीं।

जब-जब मुकर्जी के सिलसिले में मुझे कोई कठिनाई हुई मैंने उनसे कहा और उन्होंने दूर करा दी।

दूसरी सावधानी जो मैंने बरती, वह यह थी कि जब तक 'मज़दूर' की शूटिंग शुरू नहीं हुई, मुकर्जी के दफ़्तर में बाक़ायदा हाज़िरी देता रहा। हालाँकि मुकर्जी एम० ए० थे, हिन्दी प्रदेश के एम० ए० थे, लेकिन अधिकांशतः गधों और चमचों में घिरे रहने की उनसे किसी तरह की बौद्धिक गुफ़्तगू करना असम्भव था। मुझे याद है, एक बार मण्टो ने उन्हें ग़ालिब के शेर सुनाये थे और मैंने महादेवी की कविताएँ। मुकर्जी ने कहा था कि रवीन्द्रनाथ जैसी एक भी प्रतिभा हिन्दी-उर्दू में नहीं है। लेकिन मुझे इसमें सन्देह है कि मुकर्जी को रवीन्द्रनाथ अथवा किसी अन्य प्रसिद्ध बँगला कवि का कुछ भी याद होगा....

बहरहाल, क्योंकि मेरा उद्देश्य सिर्फ़ हाज़िरी देना था, इसलिए मैं कभी उनकी बात न काटता था। मण्टो से उनका ऐसा नाता था कि वह कह सकता था—'मुकर्जी तुम्हें शायरी-वायरी की कोई समझ नहीं!' लेकिन मेरी उपस्थिति में वह भी चुप ही रहता।....

मेरी मौजूदगी में मुकर्जी सतर्क हो जाते थे। इसलिए मैं वहाँ ज़्यादा नहीं बैठता था। मुकर्जी यह न समझें कि अश्क अपने आपको बहुत लगाता है, इसलिए मैं कभी-कभार उनके दरबार में पाँच-दस मिनट को जा बैठता था।

मुझे अच्छी तरह याद है, बहुत बाद में जब मुकर्जी कई बार मुझे ज़ेर करने की कोशिश में असफल हो चुके थे, एक बार ऐसे में उन्होंने कहा था, "यू थिंक योर सेल्फ़ टु बी ए जीनियस।" याने तुम अपने आपको जीनियस समझते हो। तब चूँकि मैं मन-ही-मन तय कर चुका था कि 'फ़िल्मिस्तान' में नहीं रहूँगा, मैंने धीरे से उत्तर दिया था—अंग्रेज़ी ही में—"देयर इज़ ओनली वन जीनियस हियर!" कि 'फ़िल्मिस्तान' में एक ही जीनियस है।

तीसरी सावधानी जो मैंने बरती वह यह थी कि जिस दिन मुकर्जी वॉलीबॉल ग्राउण्ड की ओर जाते, मैं भी तत्काल नेकर पहन कर वहाँ जा पहुँचता। जिस जगह 'मज़दूर' यूनिट के दफ़्तर बने थे, वॉलीबॉल का मैदान उसके आगे सामने की ओर था। 'फ़िल्मिस्तान' के दफ़्तर से उधर जाते हुए लोग मुझे नज़र आ जाते थे। मैंने दफ़्तर की दराज़ में एक नेकर रख छोड़ा था। स्टूडियो के वक्त के बाद मैं थोड़ी देर प्रतीक्षा करता। मुकर्जी न आते तो मैं दफ़्तर बन्द करके करके घर की ओर चल देता। लेकिन जिस दिन वे आते, उस दिन तत्काल नेकर बदल कर लगभग मुकर्जी के साथ ही मैदान में पहुँच जाता।

वॉलीबॉल तगड़े लोगों का खेल है और मैं तो ख़ासा कमज़ोर आदमी हूँ, लेकिन अभ्यास से मैंने बहुत अच्छी सर्विस करनी सीख ली थी। मैं हमेशा गेंद ऐसी जगह फेंकता, जहाँ कोई खिलाड़ी न हो। कई बार तो ऐन लाइन पर फेंकता।

कभी दायीं ओर, कभी बायीं ओर। प्रतिद्वन्द्वी खिलाड़ी समझते गेंद बाहर जा रही है, पर वह लाइन के ज़रा अन्दर गिरती और मैं प्वाइंट ले जाता। वहाँ कोई चैम्पियन खिलाड़ी तो थे नहीं। स्टूडियो के कर्मचारी थे। उनमें जो मुकर्जी के मुँह-लगे थे – मार्शल ब्रिगेन्ज़ा, पुरी आदि – वे मुकर्जी को घेर-घार कर ले आते थे तो मैं चतुराई से सर्विस फेंक कर दो-तीन प्वाइंट ले जाता।

मैं हमेशा मुकर्जी की तरफ़ से खेलता और जब सर्विस की मेरी बारी आती, मुकर्जी बच्चों की तरह खुश हो जाते और मेरी पीठ ठोंकते।

लेकिन मुकर्जी निहायत रोंदू आदमी थे। हारने लगते तो बिसात उलट देते यानी गेंद को ज़ोर से हवा में उछाल देते और मैदान से भाग जाते। प्राय: प्रतिद्वन्द्वियों में उनके चमचे हमेशा इस बात की कोशिश करते कि मुकर्जी जीत जायें। उत्सवों के अवसर पर मलाड के बँगलों में खेलें होतीं। तब मार्शल ब्रिगेन्ज़ा और पुरी और परेरा इस बात का खयाल रखते कि मुकर्जी खेल में हिस्सा लें तो वे ही जीतें। औरतों की खेलें हों और मिसेज़ मुकर्जी हिस्सा ले रही हों तो हमेशा उन्हें ही जिता देते।

इस प्रकट धाँधली को मुकर्जी न देख पाते और वे या मिसेज़ मुकर्जी जीततीं तो बहुत प्रसन्न होते। मैंने जब-जब उनके दरबार में हाज़िरी दी, उन्हें बातें करते, आदेश देते, कर्मचारियों को मुलाज़िम रखते, निकालते, सम्वाद पसन्द या नापसन्द करते, अधीनस्थों को डाँटते-फटकारते, अपने चमचों से चुहल अथवा उन पर क्रोध करते, रूठते अथवा मनते देखा, मुझे हमेशा उनका व्यवहार एक बिगड़े हुए बच्चे, अथवा मूडी स्वेच्छाचारी सम्राट-सा लगा।

सबसे बड़ी सावधानी

दो साल की मुलाज़मत में जो मुकर्जी मेरा अपमान नहीं कर सके और बाद में मन-ही-मन झुँझलाते रहे (जिसका पता मुझे बहुत बाद में लगा) तो उसका सबसे बड़ा कारण यह था कि मैंने उनसे और अपने बीच सदा एक औपचारिक रिश्ता; मालिक और नौकर के बीच की एक दूरी बनाये रखी। मालिक के नाते उन्हें पूरा आदर दिया और मुलाज़िम के नाते इज़्ज़त चाही, जो एक पढ़े-लिखे मालिक द्वारा एक पढ़े-लिखे कर्मचारी को मिलनी चाहिए। जैसा कि मैंने शुरू में कहा – न मैंने उनसे चम्मी बनने की कोशिश की, न उन्हें अपने साथ किसी तरह की आज़ादी लेने दी। मैं समझता हूँ, यही सबसे बड़ी सावधानी थी, जिसने मेरी रक्षा की।

ज़िन्दगी में मैंने ज़्यादा नौकरी नहीं की, डेढ़-दो साल 'वन्दे मातरम' में, डेढ़-दो साल प्रीतनगर में, तीन साल ऑल इण्डिया रेडियो के दिल्ली स्टेशन पर, छै महीने

'सैनिक समाचार' में और पूरे दो साल 'फ़िल्मिस्तान' में। मैंने सब जगह प्राय: एक-सा व्यवहार रखा। यह ठीक है कि अफ़सरों से मेरी नहीं पटी और मैं प्राय: नौकरी छोड़ आया, लेकिन जब तक की, जहाँ की, नौकरी मैंने इज़्ज़त ही से की।

जितने दिन मैं चटाइयों से बने दफ़्तर में 'मज़दूर' अथवा 'सफ़र' के सम्वाद लिखता रहा, मुकर्जी मेरे कमरे में नहीं आये, लेकिन शुरू और बाद के दिनों में जब मैं उनके कमरे में बैठा होता और वे बाहर से आ जाते तो मैं हमेशा अपनी जगह अदब से खड़ा हो जाता। वे मुझे बुलाते तभी हमेशा हाथ जोड़ कर और ज़रा सिर झुका कर उनके सामने जा खड़ा होता कि कहिए क्या हुक्म है।

सन्तोषी, मण्टो और पाई के साथ मुकर्जी बहुत खुले हुए थे। सन्तोषी को तो मैंने नहीं देखा, लेकिन मण्टो और पाई दबी ज़बान से मुकर्जी को साला-वाला कह लेते थे। मण्टो को, जो 'फ़िल्मिस्तान' के कण्ट्रोलर ऑफ प्रोडक्शंज से अपने चुहलबाज़ी के नाते पर बहुत गर्व करता था, उनके सामने मेरे यों हाथ जोड़ कर खड़े होने से (जिस हरकत में सूक्ष्म-सी नाटकीयता रहती) बड़ा गुस्सा आता। वह मुझे अपने और मुकर्जी के दोस्ताना सम्बन्धों की घटनाएँ सुन कर मुकर्जी की नितान्त अनौपचारिकता की प्रशंसा करता; लेकिन मैं समझता हूँ, ए-वन कहानी लेखक होने के बावजूद मण्टो को मालिकों के बुनियादी मनोविज्ञान की कोई समझ नहीं थी। थी तो शायद वह उतने समय का लाभ उठाना चाहता था, जब तक मालिक की नज़र भली रहे। मालिक कब मालिक बन जायगा और कब 'चम्म' (chum) यह हमेशा मालिक की इच्छा पर निर्भर करता है और मुझे यह स्थिति स्वीकार नहीं थी, इसलिए मैंने वैसा बर्ताव अपना रखा था और इसी कारण मैं बिना अपमानित हुए मुकर्जी के चंगुल से निकल आया।

इस सन्दर्भ में 'फ़िल्मिस्तान' के अपने अन्तिम दिन की दो – प्रकट बहुत छोटी, पर उपर्युक्त प्रश्न के सिलसिले में अत्यन्त महत्वपूर्ण – घटनाएँ मेरी याद में उभरती हैं।

०

....मेरे अभिनय के खाते मुझे ढाई हज़ार रुपये दिलवाने के लिए, जब मुकर्जी अपने घर सान्ताक्रूज़ से मुझे कार में ले कर स्टूडियो पहुँचे तो जैसा मैंने उल्लेख किया, वे बड़े अच्छे मूड में थे। उस सुबह उनके सद्व्यवहार से मैं स्वयं चकित रह गया था।

बहरहाल, जब वे स्टूडियो के गेट में दाखिल हुए और कार पार्क करने के लिए पीछे की ओर चले, तो हमने देखा कि कैण्टीन के ज़रा इधर अपना ब्रीफ़-केस बग़ल में दबाये, खादी का दूध धुला कुर्ता-पायजामा पहने, मण्टो जा रहे हैं। जाने मुकर्जी के मन में क्या आयी, उन्होंने कार ज़रा मण्टो की ओर मोड़ दी।

कार को जगह देने के लिए मण्टो दायीं ओर को दीवार की तरफ़ हो गये।

मुकर्जी ने कार को और मोड़ दिया। मण्टो दीवार और कार में एकदम भिच गये। सिर झ्योहड़ा कर उन्होंने नीम-गुस्से और नीम इल्तिजा के स्वर में कहा :

"क्या करते हो मुकर्जी !"

"कहो मैं ईडियट हूँ।"

मण्टो चुप रहे

मुकर्जी ने कार जरा और मोड़ी और बिल्कुल एक हठी बच्चे की तरह हँस कर वही दोहराया :

"कहो मैं ईडियट हूँ।"

तभी मण्टो ने उसी तरह दबी निगाह से मेरी ओर देखा और हमारी निगाहें चार हुईं। मण्टो की निगाह का अनुसरण करते हुए मुकर्जी ने भी मेरी ओर देखा। हठात उन्हें खयाल आया कि मेरी मौजूदगी में मण्टो कभी यह नहीं कहेगा।.... और उन्होंने फिर कार सीधी कर ली और आगे बढ़ गये।

०

....हालांकि मेरी तबियत ठीक नहीं थी और खासी कमजोरी महसूस हो रही थी, लेकिन मुझे लगता था कि शायद अब मैं फिर कभी स्टूडियो नहीं जाऊँगा। और मैं सबसे विदा ले लेना चाहता था। जब मैं बारह बजे तक घर नहीं पहुँचा तो मेरी पत्नी ने नौकर के हाथ नाश्ता भेज दिया। नौकर मुझे ढूँढ़ता हुआ कैण्टीन में आ गया। मुझे अच्छा लगा। मुझे हल्की-सी भूख लग आयी थी। मैंने नाश्ता ले लिया। नौकर बर्तन ले कर चला तो मैंने उसके हाथ सन्देशा भेज दिया कि मैं अभी आता हूँ।

सबसे मिलने-मिलाने में तीन बज गये। तब मैं घर की ओर चला। वापसी पर दफ़्तर की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए मेरे मन में खयाल आया कि मुकर्जी ने मेरे साथ पहले कैसा भी व्यवहार किया हो, अन्तिम दिन तो अच्छा सलूक ही किया है। क्यों न उन्हें धन्यवाद देता चलूँ।

कैण्टीन ही में मैंने सुना था कि रायबहादुर चूनीलाल नहीं आये और मुकर्जी उनके दफ़्तर में बैठे काम निबटा रहे हैं।

बड़े कमरे में से होता हुआ जब मैं सामने के बरामदे की ओर आया, जहाँ कि रायबहादुर का दफ़्तर था, मैंने देखा कि बरामदे में कई लोग मुकर्जी से मिलने की प्रतीक्षा में खड़े हैं। उन्हीं में मैंने मण्टो को भी चुपचाप एक कुर्सी पर बैठे हुए देखा।

मुकर्जी जब चाहें, उन्हें सब लोग उपलब्ध थे, लेकिन जब कर्मचारी चाहें तो मुकर्जी से मिलना कई बार कठिन हो जाता था। कायदा तो यही कहता था कि उनके निजी सचिव से मुलाकात का टाइम ले लिया जाय, लेकिन उस टाइम पर मिल ही जायेंगे, इसका भी कोई ठिकाना नहीं था।....वे बहुत ही मूडी और

चंचल चित्त के आदमी थे। नितान्त व्यवहार-कुशल, चालू और तेज़। फिर स्टूडियो में तीन-तीन फ़िल्में बन रही थीं और प्रोडक्शन से ले कर फ़िल्मों के वितरण तक में उनका दखल रहता था। स्वभावतः मुकर्जी बहुत व्यस्त रहते थे। दो साल की अपनी नौकरी में शायद ही मैंने कभी टाइम ले कर उनसे मुलाकात की थी। मुझे जब कोई व्यक्तिगत आवश्यक काम हुआ, मैं हमेशा सुबह-सुबह उनके घर पर मिलने चला गया। लेकिन एक-दो बार ऐसा भी हुआ कि वे मुझसे नाराज़ थे और मैं त्याग-पत्र जेब में डाले घूमता था। ऐसे में सीधे दरवाज़ा खोल कर मैं उनसे मिल आया था।...उस वक्त भी मैंने सीधे ही मिलने की सोची, लेकिन मण्टो सामने ही बैठे थे। मैंने कहा, "तुम यहाँ बैठे क्या कर रहे हो, मुकर्जी तो तुम्हारे यार हैं, जाते क्यों नहीं।"

लेकिन मण्टो ने मुझसे निगाहें नहीं मिलायीं, न मेरी किसी बात का जवाब दिया।

कम्पनी में तब तक दो-तीन गुट बन गये थे। मुकर्जी और अशोक में कुछ खिंचाव पैदा हो गया था। मण्टो अशोक के साथ था। इसीलिए शायद मण्टो को संकोच था। जब मैंने फिर कोंचा तो चिढ़ कर दबी जबान से उसने कहा, "आ जायेगा अभी। कौन जल्दी है। तुम जाओ।"

और मैंने बढ़ कर दरवाज़े का हैण्डिल दबाया और ज़रा-सा दरवाज़ा खोल कर कहा, "एक्स्क्यूज़ मी सर, जस्ट ए मिनट।"

लेकिन मैंने कठिनाई से दरवाज़े के अन्दर कदम रखा था कि वहीं ठिठक गया। रायबहादुर चूनीलाल की कुर्सी को ज़रा घुमा कर, मुकर्जी उस पर बैठे थे। टाँगें उन्होंने फ़र्श पर पसार रखी थीं और एक पुराना, बेकार, अधेड़ कॉमेडियन (जो रोज़ 'फ़िल्मिस्तान' का चक्कर काटता था) फ़र्श पर चूतड़ों के बल बैठा, बड़े प्रेम-भाव से उनके पैर दाब रहा था।

मैंने अपनी बात कही। उनसे विदा ली और दूसरे ही क्षण कमरे से बाहर निकल आया।

बाहर आ कर और दरवाज़ा पूर्ववत बन्द करके मैंने बढ़ कर मण्टो से कहा, "मुकर्जी कोई बहुत ज़रूरी काम नहीं कर रहे हैं। वो पैर दबवा रहे हैं। बेकार यहाँ बैठे सूख रहे हो। जाओ, बात कर आओ।"

मण्टो ने जेरे-लब क्या कहा, मुकर्जी को गाली दी या मुझे, मैंने नहीं सुना। मण्टो पूर्ववत बैठे रहे और "अच्छा भाई" कहता और दायाँ हाथ माथे तक ले जाता हुआ, मैं बरामदे की सीढ़ियाँ उतर आया और धीरे-धीरे स्टेशन की ओर चल पड़ा।

खिसियानी बिल्ली

मण्टो में ग्रौर मुझमें यही फ़र्क था जिस बात का एहसास उसे बाद में होता था, मुझे शुरू ही में हो जाता था। मैंने मुकर्जी को मुकर्जी समझा – 'फ़िल्मिस्तान' का 'कण्ट्रोलर ग्रॉफ प्रोडक्शंज' – निहायत ज़ालिम, जाबिर ग्रौर परयन्त्रणा-प्रिय डिक्टेटर ग्रौर उनसे सुलटने को मैंने उन्हें कुछ ऐसा ग्रतिरिक्त ग्रादर दिया कि वे कोई छोटी बात न कर सकें। उन्होंने मुझे डाँटने की कोशिश की तो मैं नौकरी छोड़ने पर तैयार हो गया। मैंने काम में कभी कोताही नहीं की, न मेहनत से कन्नी काटी ग्रौर हमेशा उन्हें इस बात का एहसास दिलाया कि मैं प्रसिद्ध लेखक हूँ – उनका चमचा नहीं।

मैं समझता हूँ, मेरे उस वतीरे को मुकर्जी कभी नहीं भूले। उन्हें हमेशा मलाल रहा कि वे मेरी लुगदी नहीं बना पाये ग्रौर खिसियानी बिल्ली की तरह, जिसके हाथ में केवल पक्षी का पंख ग्राया, मुकर्जी भी 'प्रिज़नर ग्रॉफ़ ज़ेण्डा' की कहानी को ले कर मुझे गालियाँ देते रहे।

मेरे इलाहाबाद ग्राने के बाद सत्येन्द्र शरत फ़िल्मों में गये थे। एक दिन वे 'फ़िल्मिस्तान' स्टूडियो में गये। वहाँ मुकर्जी की सादियत-पसन्दी का ज़िक्र करते हुए एक फ़िल्मी कथाकार ने, जो ग्रपने ग्रापको सगर्व मुकर्जी का चमचा कह रहा था, उन्हें बताया कि यहाँ बड़े-बड़े चेखव ग्रौर गोर्की ग्राये ग्रौर मुकर्जी ने उनकी लुगदी बना दी; कि वह एक हिन्दी का चेखव यहाँ ग्राया था, ग्रपने ग्रापको जीनियस समझता था, उसने 'प्रिज़नर ग्रॉफ़ ज़ेण्डा' की कहानी लिखी, जो तबसे बन्द पड़ी है ग्रौर ग्रब उसका उद्धार हो रहा है। मुकर्जी ने एक दिन उस चेखव पर ग्रपनी कार चढ़ा दी थी ग्रौर उससे कहा था कि तब तक नहीं छोड़ूँगा, जब तक ग्रपने ग्रापको ईडियट नहीं कहोगे ग्रौर मुकर्जी ने उसके मुँह से 'मैं ईडियट हूँ' कहलवा के उसे छोड़ा। उस चेखव को कुछ ऐसा ग्राघात लगा कि उसे टी० बी० हो गयी ग्रौर बरसों सैनेटोरियम में बिस्तर तोड़ता रहा।

कुछ ऐसी ही बात शरत ने सुनायी थी। उसने ग्रपने उपन्यास में भी लिखा है। मेरा नाम भले ही उसमें नहीं है, लेकिन घटना वही है, जिसका मैं साक्षी था। फ़र्क यही है कि मण्टो ने ग्रपने ग्रापको ईडियट नहीं कहा था।

ग्रब सवाल पैदा होता है कि यह घटना, जिसका केवल मैं साक्षी था, कैसे फैली? मैं तो हस्पताल से सैनेटोरियम चला गया ग्रौर सैनेटोरियम से उतरा तो बिना बम्बई रुके इलाहाबाद ग्रा गया। मण्टो पाकिस्तान चले गये। फिर वे उस घटना का उल्लेख कर भी नहीं सकते थे। सिर्फ़ एक ही व्यक्ति है, जिसने इसका उल्लेख किया होगा। वह है मुकर्जी!

नाम उन्होंने नहीं लिया होगा। चेखव ग्रौर गोर्की ज़रूर कहा होगा। मण्टो भी कहानी लेखक था ग्रौर मैं भी ग्रौर दोनों ग्रपने ग्राप को चेखव-गोर्की क्या, उनसे भी बड़ा लगाते थे। चूँकि मुकर्जी नितान्त ग्रबौद्धिक ग्रादमी थे, इसलिए वे हमसे विशेषकर बहुत चिढ़ते थे। ग्रपने ग्रापको जीनियस समझने का ताना उन्होंने मुझे दिया ही था। यह भी हो सकता है कि उन्होंने मण्टो का नाम लिया हो, क्योंकि ग्रन्ततः मण्टो भी उन्हें छोड़ कर 'बॉम्बे टाकीज़' में चले गये थे। उनके चमचों ने रंग देने के लिए उसके साथ 'प्रिज़नर ग्रॉफ़ ज़ेण्डा' ग्रौर टी० बी० की बात जोड़ कर मुकर्जी की प्रशंसा में इसे फैला दिया हो।

मैं यह मान सकता हूँ कि उसी के व्यवहार के कारण मुझे टी० बी० हो गयी, यह सुन कर मुकर्जी को बहुत खुशी हुई होगी। हो सकता है, ग्रपने दिल में वे तब भी यही समझते हों ग्रौर शायद इसीलिए ग्रन्तिम दिन उन्होंने मुझसे सद्-व्यवहार किया हो। यह भी कौन कह सकता है कि जब वे मण्टो पर कार चढ़ा रहे थे, उस वक्त वे मण्टो की जगह मुझे न देख रहे थे। ग्रादमी के मन की गहराइयों का कोई वार-पार नहीं। उसमें ग्रनन्त गिरि-गह्वर हैं।

मुझे भी यह सब सुन कर सन्तोष हुग्रा कि मुकर्जी मुझे नहीं भूले ग्रौर खिसियानी बिल्ली खम्बा नोचती रही।

बीस साल बाद

बम्बई की ज़िन्दगी में मुकर्जी से मेरी वही ग्रन्तिम भेंट थी, क्योंकि दूसरे दिन मैं हस्पताल चला गया। लगभग बीस वर्ष बाद एक बार मैं बम्बई गया ग्रौर लगभग एक महीना ग्रपने मित्र राजेन्द्र सिंह बेदी के पास ठहरा। यों ही मेरे दिल में एक दिन ग्राई कि मैं मुकर्जी से मिल ग्राऊँ। मैंने बेदी से वक्त ले कर देने को कहा। इस बीच मुकर्जी ने 'फ़िल्मिस्तान' छोड़ कर ग्रपना निजी स्टूडियो 'फ़िल्मालय' स्थापित किया था। उन्होंने 'फ़िल्मालय' में पाँच बजे शाम का टाइम दिया।

मैं समय से पहुँच गया। स्टूडियो में शायद छुट्टी हो चुकी थी ग्रौर ग्रधिकांश कर्मचारी जा चुके थे। खासा सन्नाटा था। चपरासी से मालूम हुग्रा कि मुकर्जी ग्रपने कमरे में बैठे हुए हैं। मैंने उसे चिट दी। वह ग्रन्दर ले गया ग्रौर वापस ग्रा कर उसने मुझे गैलरी में कौच पर बैठने के लिए कहा।

दस मिनट बीते। बीस मिनट बीते। जब ग्राधा घण्टा बीत गया तो मैं झुँझला कर उठा। काम तो मुझे कोई था नहीं। इसलिए मैं उनके कमरे के नज़दीक गया ग्रौर दरवाज़े में ज़रा-सा झाँकते हुए मैंने कहा, "मुकर्जी साहब, ग्रगर बहुत बिज़ी हों तो मैं फिर कभी ग्रा जाऊँगा।"

मुकर्जी दरवाजे की दायीं ओर किवाड़ की ओट में बैठे थे और दरवाजे के सामने मेज पर दोहरे बदन का, तीस-बत्तीस वर्षीय एक युवक बैठा था, जिससे वे बातें कर रहे थे।

मैं अन्दर गया तो उन्होंने मुझसे हाथ मिलाया और दायीं तरफ़ रखी कुर्सी पर बैठने को कहा। मैं बैठ गया तो उन्होंने उस युवक का परिचय दिया और मुझे मालूम हुआ कि वह हरि नाम का कोई कथाकार है, जिसकी कहानियाँ उन दिनों सफल हुई थीं। बेदी के एक मित्र और 'गर्म कोट' के डायरेक्टर अमर कुमार के यहाँ मैंने उसका नाम सुना और यह भी सुना था कि अब उसे अपनी कहानी के पचास हज़ार रुपये ऑफ़र हो रहे हैं।

लेकिन सामने जो युवक बैठा था, वह उस तरह का धाकड़ नहीं लग रहा था। वह तो भीगी बिल्ली की तरह ज़रा-सा दबा हुआ बात कर रहा था और मुकर्जी (जिन्होंने शायद सिर पूरा गंजा हो जाने के कारण गांधी टोपी पहन रखी थी) पीछे की ओर पसरे, जैसे उससे खेल रहे थे। जो दो-चार टुकड़े बातों के मेरे कानों में पड़े, उससे मैंने समझा कि हरि उन्हें कोई कहानी जड़ने के फ़िराक में था और मुकर्जी चाहते थे कि वो 'फिल्मालय' में आ जाय; वहीं वे उसके लिए मेज़ लगवा देते हैं, जम कर काम करे।

मेरे आने के बाद हरि बहुत देर नहीं रुका। वह उठा और उसने इजाज़त चाही। उसके जाने के बाद मुकर्जी मेरी तरफ मुड़े और उन्होंने जानना चाहा कि मैं कैसे आया हूँ। जब उन्हें मालूम हुआ कि मुझे कोई काम नहीं, मैं तो सिर्फ़ उनके दर्शन करने आया था तो उन्होंने कहा, "तब आप घर क्यों नहीं आये?" (ज़ाहिर है, उन्होंने यही समझा कि मैं कोई काम चाहता हूँ और उन्होंने मुझे आध घण्टे तक प्रतीक्षा कराना ज़रूरी समझा।)

मैं उन्हें कैसे बताता कि मैं उनकी वही अदा देखने आया था। देखने आया था कि वे कितना बदले हैं। बहरहाल, मेरे बारे में उन्होंने बहुत सुन रखा था। कहने लगे कि आपने बहुत नाम पाया है। मैंने भी उनकी काफ़ी तारीफ़ की कि हिट फ़िल्में बनाने में उनका कोई सानी नहीं, वग़ैरा-वग़ैरा।

उनके छोटे भाई सुबोध का भी ज़िक्र चला, जो अब लखपती हो गये थे जबकि बीस साल पहले दफ़्तर में सब उन्हें बेवकूफ़ समझते थे और मुकर्जी सबके सामने उन्हें 'ईडियट' की उपाधि से विभूषित करते थे। मुकर्जी को इस बात का अफ़सोस था कि उन्होंने सुबोध को बनाया, पर वे उनका एहसान नहीं मानते।

हम बातें हो कर रहे थे और मुकर्जी ने कहा था कि चलिए आपको स्टूडियो दिखाते हैं कि इतने में गदराये शरीर की एक युवती और उसके साथ एक अधेड़ व्यक्ति अन्दर आये।

मुकर्जी ने मुझे उस युवती का नाम बताया और कहा कि अपनी नयी फ़िल्म में वे उसे म्यूज़िक डायरेक्टर के रूप में पेश कर रहे हैं। अधेड़ व्यक्ति उसके पिता थे।

युवती उनके पास आ खड़ी हुई और वे बड़े प्यार से उसके पीछे कमर से नीचे तक हाथ फेरते हुए, उसके म्यूज़िक की प्रशंसा करते रहे। मुझे लगा कि मुकर्जी बुढ़ापे में थोड़ा बदल गये हैं। क्योंकि सन ४५-४६ के दो वर्षों में मैंने उन्हें कभी ऐसी हरकत नहीं देखा।

कुछ देर के बाद मुकर्जी उठे और मैं भी उठा। हम बाहर आये तो वे मुझे स्टूडियो दिखाने की बात यकसर भूल गये। मैंने भी उन्हें बेकार परेशान करना उचित नहीं समझा। स्टूडियो देखने में मेरी कोई रुचि नहीं थी। मैं तो सिर्फ़ उस व्यक्ति को एक नज़र देखना चाहता था।

बहरहाल मैं उनसे हाथ मिला कर चला आया।

०

इसके बाद १९७४ में अचानक उनसे लन्दन में भेंट हो गयी।

मैं वहाँ ऑक्सफ़ोर्ड स्ट्रीट की एक गली में डॉ० धर्मपाल के फ्लैट को जाने वाली सीढ़ियों के सामने खड़ा उनके आने की प्रतीक्षा कर रहा था कि ऑक्सफ़ोर्ड स्ट्रीट की ओर से मैंने मुकर्जी को आते देखा।

इन तीस वर्षों के दौरान उनमें सिवाय इसके कोई अन्तर नहीं आया था कि शरीर पर माँस ज़रा-सा चढ़ गया था और पेट, जो हमेशा पिचका रहता था, कद्रे बाहर को निकल आया था। सिर पर उनके गर्म टोपी थी और दूर से आते हुए वे बहुत ही साधारण आदमी मालूम पड़ते थे। पास आ कर उन्होंने मुझे पहचाना और हाथ मिलाया और पूछा कि मैं वहाँ कैसे हूँ।

मैंने उन्हें बताया कि मैं रूस गया था; वहाँ से लन्दन चला आया हूँ। और चार-पाँच महीने रहूँगा।

उन्होंने सूचना दी कि उनकी लड़की वहाँ ब्याही है। वे उससे मिलने आये हुए हैं और उन्होंने मुझे एक फ़ोन नम्बर दिया और कहा कि मैं उनसे ज़रूर मिलूँ।

ज़ाहिर है कि उनसे मिलने की कोई इच्छा नहीं हुई। मुकर्जी उन लोगों में से हैं, जिनसे पाँच मिनट भी कोई ढब की बात नहीं की जा सकती। मैं तब यही सोचता रहा था कि वह व्यक्ति, जो अपने परिवेश में आतंक उपजाता था, यहाँ कैसा निरीह दीखता था। कुछ लोग होते हैं, जो अपने परिवेश के बाहर भी महत्व का एहसास दिलाते हैं। ज़ाहिर है, मुकर्जी वैसे आदमी नहीं थे।

* *

उन्नीस सौ छियालीस में, जब मैंने 'फ़िल्मिस्तान' की नौकरी से त्याग-पत्र दिया तो उन्हीं दिनों एक महीना ऐसा भी आया, जबकि 'बॉम्बे टॉकीज़' के बिकने की बात हो रही थी। मैं मलाड ही में रहता था और यह सब को मालूम था कि मैंने 'फ़िल्मिस्तान' छोड़ने का इरादा कर लिया है। तब 'बॉम्बे टॉकीज़' के ऐक्टर, डायरेक्टर, गीतकार और कहानी-लेखक मेरे पास भी आये थे। 'बॉम्बे टॉकीज़' बिकने की बात चलते ही उसमें कई ग्रुप बन गये थे। उन दलों के नेता किसी-न-किसी सेठ से नत्थी थे। एक दिन खबर उड़ती कि अमुक सेठ कम्पनी खरीद रहा है और अमुक अभिनेता डायरेक्टर हो रहा है और उसका कोई-न-कोई आदमी मेरे पास आता कि मैं उनके यूनिट में चला जाऊँ। मेरी तबियत अच्छी नहीं थी, लेकिन मुझे टी० बी० है, यह घोषित नहीं हुआ था। मैं प्रायः चारपाई पर ही लेटा रहता था और चूँकि मैं तब तक उर्दू में भी लिखता था, इसलिए दोनों दलों के लोग मेरे पास आते थे। जो आता, वह अपने सेठ की प्रशंसा करता और मुझे यकीन दिलाता कि निश्चय ही उसका सेठ कम्पनी खरीद रहा है और अगली फ़िल्म वही डायरेक्ट कर रहा

है। मुझे याद है, उन दिनों दूसरे लोगों के अलावा नरेन्द्र शर्मा और दिलीप कुमार भी मेरे यहाँ आये थे। खैर कम्पनी तो किसी तीसरे ने खरीद ली और बहुत-से लोगों को उसे छोड़ना पड़ा और मैं पंचगनी के सैनीटोरियम में भर्ती होने को विवश हुआ, लेकिन उस एक महीने की याद मेरे साथ ही चली आयी।

फिर जब इलाहाबाद आ कर मैं पुनर्वास का प्रयास कर रहा था, मेरी पत्नी ने प्रकाशन खोल लिया था और मैं घर का खर्च चलाने को लगातार रेडियो के लिए लिख रहा था और मूर्ति साहब निरन्तर मेरे नाटक शेड्यूल कर रहे थे, मैंने एक दिन उन्हें 'बॉम्बे टॉकीज' के बिकने का यह किस्सा सुनाया और उसी दिन 'मस्केबाजों का स्वर्ग' के नाम से नाटक शेड्यूल हो गया।

जहाँ तक मुझे याद है, इस नाटक का पहला वर्शन मैंने सीधे टाइप राइटर पर डिक्टेट करवा दिया था और यह उन्हीं दिनों ब्रॉडकास्ट हो गया था। कुछ समय बाद मैंने इसका रंगमंच-रूपान्तर तैयार किया तो 'नीटा' ने इसे इलाहाबाद के रंगमंच पर प्रस्तुत भी किया था। उन दिनों 'नीटा' के पास अभिनेताओं की बहुत अच्छी टीम थी, जिसमें बंगाली, मराठी, गुजराती सभी प्रान्तों के अभिनेता थे। उनमें से अधिकांश ऑडिट ऑफ़िस और रेडियो से सम्बन्धित थे और नाटक से उनका बहुत लगाव था। नाटकों को रिहर्सलें मेरे घर पर होती थीं और जब मैं सन्तुष्ट हो जाता था तो 'नीटा' वाले उन्हें मंच पर ले जाते थे। प्रस्तुत नाटक १९५१ में एक अखिल भारतीय नाटक प्रतियोगिता में गर्ल्ज हाई स्कूल, इलाहाबाद के मंच पर खेला गया था। श्री विजय बोस ने इसका निर्देशन किया था। वे ही दीपक परवाना के रोल में उतरे थे। दूसरे अभिनेताओं में पी० सी० बनर्जी और कौशल विहारी लाल ने बहुत अच्छा अभिनय किया। पाँचूदा की भूमिका को पी० सी० बनर्जी ऐन-मैन मेरी कल्पना के अनुरूप प्रस्तुत करते थे।

मेरा संघर्ष उन दिनों बहुत ही कठिन था। मैं दिन-रात काम करता था, इसलिए मैं नाटक देखने नहीं जा सका, लेकिन मैंने सुना था कि उसका प्रस्तुतिकरण सफल हुआ था और नाटक जम गया था। शायद यह एकाध बार फिर खेला गया। इसके बाद 'नीटा' ने छोटे नाटक खेलना छोड़ दिया और मेरा बड़ा नाटक, 'अलग-अलग रास्ते' उठाया, जो पैलेस के मंच पर बड़ी सफलता से खेला गया। उसके बाद, जैसा कि प्रायः होता है, संस्था के सदस्यों में आपसी राग-द्वेष के कारण एकाध नाटक और खेल कर 'नीटा' बन्द हो गयी; मेरा सम्बन्ध भी उससे कट गया, मूर्ति साहब इलाहाबाद से चले गये और मैं नाटक लिखना छोड़, उपन्यास लिखने में निरत हो गया।

•

'मस्केबाजों का स्वर्ग' की थीम तो यद्यपि 'बॉम्बे टॉकीज' के बिकने के कारण मेरे दिमाग में आयी थी, लेकिन परोक्ष रूप से मैंने इसमें अपने दो वर्ष के फ़िल्मी

अनुभवों को समो दिया। नाटक के पात्र यद्यपि १९४६ के आस-पास के हैं, लेकिन हमारी फ़िल्मी दुनिया में इस बीच कोई भारी तब्दीली आयी हो, ऐसी बात नहीं। यह नाटक आज भी उतना ही सच है, जितना आज से दस-बीस वर्ष पहले था।

१९६९



पात्र

•

सापले	परेरा
दीपक परवाना	हरीश
गीजू भाई	परेश
जावेद	कमला
पाँचूदा	टिल्ली
देसाई	मार्शल
अजगाउँकर	पहला चपरासी
पितलकर	दूसरा चपरासी

बैरा, एक्स्ट्रा, आदि

[पर्दा 'ज्योति फ़िल्म्ज़' की कैण्टीन में उठता है। बायीं दीवार के मध्य काउण्टर है, जिसके ठीक ऊपर बड़े सुन्दर अक्षरों में 'कल्पना कैण्टीन' लिखा है।

काउण्टर के इधर को एक दरवाजा है। वह कैण्टीन के किचन को जाता है। काउण्टर के इधर कोने में एक अकेली मेज लगी है, जिसके आस-पास चार कुर्सियां हैं। पर्दा उठते वक्त सापले इस मेज़ पर बैठा कुछ खाके बनाने में व्यस्त है।

सामने पूरी दीवार नहीं, कमर तक दीवार है। उसके बाद दो-तीन स्तम्भ बने हैं, जिनके सहारे टाइलों की छत टिकी है। इस कमर तक ऊंची दीवार के ऊपर से सामने स्टूडियो नम्बर एक का मण्डप और बग़ीचा और उसमें से हो कर स्टूडियो को आने-जाने वाले लोग दिखायी देते हैं। कैण्टीन में बैठा हुआ कोई व्यक्ति चाहे तो बाहर आते-जाते किसी व्यक्ति से बातचीत भी कर सकता है।

दायीं दीवार के मध्य बाहर से आने वाला दरवाजा है, उधर के कोने में 'वॉश-बेसिन'[1] लगा है, जिसके ऊपर एक घटिया-सा शीशा दीवार में जड़ा है। साथ में खूंटी से मैला-सा तौलिया टंगा है।

कैण्टीन में बैठने का प्रबन्ध यों है कि काउण्टर के पास थोड़ी-सी जगह छोड़ कर दोनों ओर मेज-कुर्सियां लगी हैं — चार-चार कुर्सियां और बीच में एक-एक मेज! इस तरह सापले वाली मेज ज़रा-सी हट कर कोने में पड़ जाती है। चार-चार मेज़ें आमने-सामने दो पंक्तियों में लगी हैं। उनके बाद दो बड़ी मेजें और उनके साथ दो बड़ी बेंचें लगी हैं। छोटी मेज़ों पर मेज़पोश बिछे हैं, जो न बहुत साफ़ हैं, न मैले। बड़ी मेजें नयी हैं और अधिक प्रयोग से काली पड़ गयी हैं। प्रकट है कि ये एक्स्ट्रा लोगों के लिए हैं और दूसरी, स्टूडियो के पदाधिकारियों और बाहर से आने वाले प्रतिष्ठित आर्टिस्टों के लिए। काउण्टर पर एक ईरानी बैठा है, जो मौन रूप से हिसाब लिखता रहता है।

लंच टाइम में कुछ देर है, इसलिए कैण्टीन में रौनक नहीं है। कैण्टीन इक्का-दुक्का लोग आते हैं और चाय पी कर चले जाते हैं।

के बैरों का मुखिया, मार्शल अर्गेजा, मैला-सा एपरन पहने किचन से चाय लाता है और खाली प्लेट-प्याले ले जाता है। दो-तीन छोकरे उसकी सहायता कर रहे हैं।

सापले उनकी ओर से बेपरवाह निरन्तर खाके बना रहा है। पर्दा उठने के क्षण भर बाद, बाहर के दरवाजे से कम्पनी का गीतकार दीपक परवाना कम्पनी के एडीटर, गीजू भाई के साथ प्रवेश करता है, आकृति से प्रकट है कि बड़ी मौज में है। निमिष भर के लिए कैण्टीन के नाम को देखता है और नाटकीय ढंग से ठहाका मारता है।]

परवाना : कल्पना....हा....हा....हा....क्या नाम रखा है, इस साली कैण्टीन का। सच कहता हूँ गीजू भाई! अपने सभी हिट गीतों के बोल मुझे यहीं सूझे। वह 'बालम परदेसिया ओ' और वह 'तेरे नैन कमल....शर्मीले.... लजीले, हठीले ओ जान मेरी!' और वह गाना, जिसे गा-गा कर लोग पागल हो गये, 'आना मेरी जान मेरी....' सब मुझे यहीं सूझे। (वॉश-बेसिन में जा कर हाथ धोते और रूमाल से पोंछते हुए) 'आना मेरी जान' का बड़ा दिलचस्प इतिहास है। हुआ यों कि सुबह मैंने घर में नाश्ते के वक्त आमलेट माँगा। इतवार का दिन था, मलाड की दुकान बन्द, अंडे शायद मिले नहीं। मैं झुंझलाया। श्रीमती जो पहले से ही भरी बैठी थीं, बोलीं, 'घर में मुर्ग़ीख़ाना तो है नहीं कि जब चाहो अंडे मिल गये।' यहाँ 'कल्पना' में पहुँचा तो बढ़िया आमलेट खाने को मिला और गीत के पहले बोल होंटों पर आ गये :

'आना मेरी जान मेरी संडे के संडे
खिलाऊँ तुम्हें, मुर्गी के —
मुर्गी के अंडे।'

गीजू भाई : 'आना मेरी जान' तो हुआ! साला अब कुछ अंडे-वंडे भी खिलायेगा या फोकट में गाना सुना-सुना कर भेजा चाटेगा।

परवाना : (छोटी मेज़ की ओर बढ़ते हुए) ये ऐसे-वैसे गीत नहीं गीजू भाई। ये गीत हज़ारी हैं, हज़ारी! एक-एक गीत का हज़ार-हज़ार लेता हूँ। नहीं तुम खुशकिस्मत हो साले, कि तुम्हें फोकट में सुनने को मिलते हैं। लेकिन तुम अंडे प्रोड्यूसर तो स्कॉच की बोतल रख कर गीत सुनते हैं। कपूरसेन ने कम्पनी ले ली तो 'दादर-बार' खाओ आज हम खुश हैं। में पार्टी रही। (बैरे को आवाज देता है) मार्शल....मार्शल!

[मार्शल किचन से झाँकता है।]

१ वॉश-बेसिन = हाथ धोने की चिलमची।

मार्शल : आता है साब !

परवाना : देखो, इन साहब के लिए दो अंडे का आमलेट और सिंगल चाय लाओ।

मार्शल : आपको कुछ नहीं माँगता साब ?

परवाना : हमको एक सोडा माँगता है। **(गीजू भाई से)** तुम जरा यहाँ बैठो गीजू भाई। वह सापले बैठा नक्शे बना रहा है। मैं जरा उससे बात कर आऊँ। यह साला नक्शे बनाता रहेगा और दूसरे लोग डायरेक्टर, प्रोड्यूसर हो जायेंगे। **(उठते हुए आवाज देता है)** हलो सापले !

सापले : **(कागज़ से सिर उठा कर थके स्वर में)** कहो भाई परवाने !

परवाना : **(उसकी ओर जाते हुए)** बेटा, मर जाओगे सारी उमर खाके बनाते। कुछ तिड़ीबाज़ी भी किया करो।

सापले : अपन को यह सब नहीं आता। अपन तो काम करना जानता है। तुम कुछ हमको सिखाये तो हम भी सीखे, पर तुम साला बात करेगा ज़मीन-आसमान की और काम नहीं करेगा डबल का भी।

परवाना : सुनो ! **(कोहनी उसकी मेज पर टेक कर, भेद-भरे स्वर में)** अगर हम कोई फ़िल्म डायरेक्ट करें तो तुम हमारे ग्रुप में काम करोगे ? सच कहता हूँ, मुझे तुम पर बड़ी दया आती है।

सापले : अरे, तुम पहले कॉण्ट्रैक्ट तो करो।

परवाना : कॉण्ट्रैक्ट हो गया समझो **(और भी भेद-भरे स्वर में)** देखो किसी से बोलना नहीं, 'ज्योति फिल्म्ज़' की अगली पिक्चर मैं डायरेक्ट कर रहा हूँ। तुम चाहो तो आर्ट डायरेक्शन मैं तुम्हें दे दूँगा।

सापले : और जो ये ऐक्टर परेश डायरेक्टर बने हैं।

परवाना : मेरी फ़िल्म 'हाय मेरी जान' में ऐक्ट करेंगे।

सापले : पर उनके लिए तो कहानीकार हरीश को 'निशात स्टूडियो' पूना से पन्द्रा सौ रुपया महीना पर बुलाया गया था ?

परवाना : और उसने तॉल्स्तॉय की 'अन्ना कैरीनोना' का बुरी तरह गला काटा है। पर या तो वह अब कहीं और जा कर तॉल्स्तॉय की किसी और कहानी का गला उलटा छुरे से काटेगा या अगर उसे 'ज्योति फिल्म्ज़' ही में रहना है तो मेरी पिक्चर के डायलॉग लिखेगा।

[**आत्मतोष से हँसता है**]

सापले : तो क्या बॉस से तुम्हारी बात हो गयी है ?

परवाना : बॉस....कौन बॉस....**(ठहाका मारता है)**....तुम भी न जाने किस दुनिया में अफ़ीम खा कर सोये रहते हो सापले। हमारे बॉस तो कम्पनी बेच रहे हैं....

सापले : ओ तो हम भी सुना था। पर कम्पनी तो महीना भर से बिक रहा है। और जब तक कम्पनी बिकता नहीं, बॉस बॉस है। हमारा एक जानू[1] है, सेठ कपाड़िया। वह खरीदने को माँगता था कम्पनी। आया भी था, पर बात नहीं बना।

परवाना : सेठ कपूरसेन कम्पनी को ले रहे हैं और कपूरसेन से तुम जानो हमारी दाँत काटी रोटी है। रात ही उन्होंने मुझे बुलाया और बोले – 'देखो हम तुम्हारी कम्पनी खरीद रहे हैं। कोई बढ़िया-सी कहानी ढूँढ़ो और गाने ऐसे दो कि पिक्चर जुबली मनाये।' हमने उन्हें थीम सुनायी तो फड़क उठे। बोले, 'तुम लिख डालो कहानी। गाने भी तुम्हीं लिखो।' हमने कहा, 'डायरेक्शन दो तो कहानी और गाने हम दें।' बोले, 'डायरेक्ट भी तुम्हीं करो। हमें तो पिक्चर हिट चाहिए।' उसकी चिन्ता न करो सेठ,' हमने कहा, 'फ़िल्म गोल्डन जुबली न मनाये तो परवाना नाम नहीं।'

सापले : तुम गाने लिखो और फ़िल्म जुबली न मनाये, यह कैसे हो सकता है ?

परवाना : गाने ही नहीं। कहानी भी और डायरेक्शन भी। अब लोगों को मालूम होगा कि परवाना गीतकार ही नहीं, उसमें दूसरे भी गुण हैं **(स्वर को तनिक धीमा करके)** देखो, अब हमें अपना ग्रुप बनाना है और मैं सोचता हूँ, तुम्हें अपने साथ ले लूँ। क्या पड़े यहाँ खाके बनाते रहते हो।

सापले : तुम्हारा बड़ा मेहरबानी होगा।

परवाना : कहानी मैं लिख रहा हूँ और एक बढ़िया गाना भी हो गया है। फ़िल्म को अपने साथ उठा कर गोल्डन जुबली की चोटी पर न छोड़ आया तो परवाना नाम नहीं। ज़रा ट्यून देखो :

ईचक मीचक आँखें तेरी
आँख मटकते तारे
ओ ईचक मीचक !

सापले : यह ईचक-मीचक क्या बला है ?

परवाना : तुम भी यार निरे बंडल[2] हो। पहले बायीं आँख मारो और कहो 'ईचक,' फिर दायीं आँख मारो और कहो, 'मीचक।' लो देखो : **(करके दिखाता है)** 'ईचक मीचक आँखें तेरी, आँख मटकते तारे'....क्यों ? कुक्कू का डांस हो और यह गाना ! अगर हॉल में लोग आँखें मारते हुए यही गीत गाने और ताली न बजाने लगें तो परवाना नाम नहीं।

---

१ जानू = परिचित। २. बंडल = मूर्ख = उजबक।

[मार्शल ग्रामलेट की प्लेट ग्रौर एक कप चाय गीजू भाई के सामने रख देता है ग्रौर सोडे का गिलास परवाना को देता है, जो एक ही घूंट में ख़त्म करके उसे वापस दे देता है ।]

परवाना : साला यह सोडा है या पानी ? ज़रा भी तेज़ नहीं ।

मार्शल : साब ! कल का है । ग्राज का तो ग्रजुन[1] ग्राया नहीं ।

[गिलास ले कर चला जाता है]

परवाना : (फिर कोहनी मेज पर टेक कर उसी तरह भेद-भरे स्वर में) देखो, ग्रब मतलब की बात करो । यह सब बकवास जो बना रहे हो, इसे छोड़ो ग्रौर ड्रॉइंग-रूम के दो बिल्कुल नयी तर्ज़ के डिज़ाइन बना डालो । शाम को मैं सेठ कपूरसेन को यह गीत सुनाने जा रहा हूँ । तुम्हारे डिज़ाइन मैं साथ लेता जाऊँगा । उसे पसन्द ग्रा गये तो समभो तुम्हारी किस्मत खुल गयी । डिज़ाइन तुम बनाते हो ग्रौर नाम साला दूसरों का होता है । मैं तुम्हें एकदम ग्रार्ट डायरेक्टर बना दूँगा ।

सापले : तुम को हम से कोई शिकायत न होगा ।

परवाना : (ग्रौर भी भेद-भरे स्वर में) सेठ कपूरसेन कम्पनी लेते ही छाँटी करने वाला है । यह साले उर्दू-फुर्दू वाले सब हट जायेंगे । मैं चाहता हूँ कि तुम यहीं रहो । मिल कर टीमवर्क[2] करेंगे । फ़िल्म तो निश्चय हिट होगी ।

सापले : बस, यह डिज़ाइन खतम हो गया है । ग्रभी तुम्हारे लिए बना देता हूँ । ग्रपना तो साला ग्राठों घड़ी यही काम है ।

परवाना : ग्रौर देखो, ग्राज से हमें दीपक बुलाया करो । यह परवाना उर्दू का नाम है । इसे हम छोड़ देंगे ।

सापले : पर तुम्हारा यही नाम तो इण्डस्ट्री में चलता है । साला दीपक को कौन जानेगा !

परवाना : कहते तो तुम ठीक हो, पर कपूरसेन महासभाई है । वह उर्दू का साला नाम फ़िल्म से मिटा देना चाहता है । हम उसको बोलेंगे कि ग्रपने को नाम बदलने में कोई वांदा नहीं ।[3] नुकसान तुम्हारा होगा !

गीजू भाई : (ग्रामलेट ख़त्म करके वहीं बैठे-बैठे चिल्ला कर) ग्ररे परवाने, चलेगा कि वहीं रहेगा ग्रौर ग्रपने सारे गाने सापले के भेजे में ठूँस कर हिलेगा ।

---

१ ग्रजुन = ग्रभी । २. team work = इकट्ठे मिल कर काम करना ।
३. कोई वांदा नहीं = कोई ग्रापत्ति नहीं ।

परवाना : ग्राया ! (सापले से) तो सापले, तुम बना डालो बढ़िया-से दो-चार खाके । (गुनगुनाता हुग्रा लौटता है :)

ईचक मीचक ग्राँखें तेरी ! ग्राँख मटकते तारे !
ये ग्राँखें हैं या दिल को चीरने वाले हैं दो ग्रारे !

[गीजू भाई की बाँह-में-बाँह दे कर मस्ती से झूमता हुग्रा निकल जाता है । बाहर से जावेद प्रवेश करता है ।]

जावेद : (सापले के पास जा कर) क्यों सापले, कर दिये तैयार डिज़ाइन ।

सापले : (सामने पड़े खाके पर पेन्सिल से एक-ग्राध निशान बना कर) हाँ, यह लो । (तीन-चार खाके उसे देता है) बोलो, कब महूरत कर रहे हो ।

जावेद : बस, ग्राज सब तय हो जायेगा ।

सापले : हम सुना कपूरसेन खरीद रहा है कम्पनी । तुम्हारे कासिम भाई का क्या हुग्रा ?

जावेद : ग्ररे, वह बनिया क्या खा कर हमारे कासिमभाई लालभाई का मुकाबला करेगा ! ग्यारह लाख ग्रॉफ़र किया है कासिमभाई ने । ग्रभी मैं सेठ की कार पर ही ग्राया हूँ । देखो, कहानी तो मेरे भाई ग्रयूब की होगी, डायलॉग शब्बीर लिखेगा, गाने रहमत जानी के होंगे, म्यूज़िक पितलकर का होगा, हीरो मैं, हिरोइन पिम्मी, फ़ोटोग्राफ़र कुलकर्नी, साउण्ड रिकॉर्डिस्ट बेडेकर ग्रौर एडीटर काका । बोलो, कैसी टीम रहेगी ? ग्रब तक लोग जावेद को महेशकुमार के नाम से सिर्फ़ एक ऐक्टर के रूप में जानते थे, जब 'तबस्सुम' – मेरी फ़िल्म का नाम 'तबस्सुम' है – रिलीज होगी तो लोग जानेंगे कि जावेद एक कामयाब ऐक्टर ही नहीं, माहिर डायरेक्टर भी है । (धीरे से) मैंने सेठ से कह दिया है कि मैं तुम्हें ग्रपने यूनिट में ले रहा हूँ । तुम यहाँ कितना पाते हो ?

सापले : तीन सौ !

जावेद : मैं तुम्हें साढ़े तीन सौ, हो सका तो चार सौ तक दिला दूँगा । बोलो चलेगा ?

सापले : चलेगा ।

जावेद : यह हिन्दी-फिन्दी वाला यहाँ एक नहीं रहने का । कासिमभाई ग्राया कि छाँटी हुई । लेकिन तुम फ़िक्र न करो । तुम्हें इस झगड़े से क्या लेना है ? बस, दो-चार ग्रौर बढ़िया डिज़ाइन बना डालो ।

[जैसे तेज़-तेज़ ग्राया था, वैसे ही तेज़-तेज़ चला जाता है । दो लड़कियाँ, जो प्रकट है कि एक्स्ट्रा हैं, प्रवेश करती हैं । एक का नाम कमला है ग्रौर दूसरी का टिल्ली ।]

कमला : **(बैरे को आवाज देती है)** बॉय, दो सिंगल चाय लाग्रो। **(टिल्ली को बेंच पर बैठा कर)** तुम यहीं बैठो टिल्ली, मैं अभी आयी **(सापले के पास जाती है)** क्यों सापले साहब, सुना परेश साहब की फ़िल्म अब नहीं बनेगी, हमने तो बड़ी मुश्किल से उसमें छोटा-सा रोल लिया था।

सापले : **(थकी हुई-सी एक अँगड़ाई ले कर, वैसी ही थकी हुई आवाज में)** सुना तो हम भी है।

कमला : और कल उसका महूरत होने जा रहा था।

[**बाहर दूर से परवाने के गाने की आवाज आती है, कमला उसे सुनते ही अनायास काउण्टर के उधर सामने की दीवार के पास जा खड़ी होती है।**]

परवाना : { वो जो बेचते थे दवाये दिल,
वो दुकान अपनी बढ़ा गये।

कमला : परवाना साहब, बड़े रंग में हैं!

परवाना : **(बाहर से)** हम हमेशा रंग में रहते हैं। **(गाता है)** वो जो बेचते थे दवाये दिल, दुकान अपनी बढ़ा गये।

[**रुकता नहीं, मस्ती में गाता और झूमता हुआ दूर चला जाता है। कमला फिर वापस आ जाती है।**]

कमला : **(सापले से)** सुना है कि परवाना साहब डायरेक्टर बनने वाले हैं। कहते थे, किसी से कहना नहीं, पर कम्पनी की अगली फ़िल्म 'हाय मेरी जान' होगी और न सिर्फ़ मैं इसकी कहानी और गीत लिखूंगा, बल्कि उसे डायरेक्ट भी मैं ही करूँगा। वो अपना अलग ग्रूप बना रहे हैं। हमें अपने साथ मिलाने को कहते हैं। आपकी क्या राय है? परेश साहब की फ़िल्म न बनी तो हम बेकार हो जायेंगे।

सापले : सुना तो हम भी है।

कमला : और जावेद कह रहे थे कि कम्पनी कासिमभाई ख़रीद रहे हैं और उन्होंने उनसे कहानी वग़ैरा चुनने को कह दिया है। 'ज्योति फ़िल्म्ज़' की नयी पिक्चर वे डायरेक्ट करेंगे। परेश साहब की पिक्चर तो लगता है, रह गयी। उनसे मिले तो उनका मुंह उतरा हुआ था। बातें भी हुईं। वे तो कुछ अध्यात्म की बातें कर रहे थे। तो फिर बताइए कि जावेद साहब को 'हाँ' कर दें?

सापले : दोनों को 'हाँ' कर दो। साला जिसका सेठ कम्पनी खरीदे और जो साला कॉण्ट्रैक्ट दिखा दे, उस पर सारे-का-सारा पोलसन का डिब्बा ले कर पिल पड़ो।

कमला : वाह सापले साहब, क्या बात है आपकी!

[**कण्ठ में घण्टियाँ-सी बज उठती हैं। मार्शल चाय के प्याले मेज पर रख कर उसके पास आता है।**]

मार्शल : मैडम चाय ठंडा हो रहा है।

कमला : चलो, आये।

[**जा कर टिल्ली के साथ चाय पीती है, बाहर दरवाज़े से पाँचूदा देसाई के साथ बातें करते हुए प्रवेश करते हैं।**]

पाँचूदा : हमको पोरेश बोला कि मामला कुछ गोड़ोबोड़ो है। हम बोला, किछु बात नेईं, ये डिझाइन साला कोई और लेगा। पाँचूदा को कोई वोंदा नेईं। अपना कोई डिमाग है साला, दिन में दस ठो डिझाइन बना देता है। एक ड्राइंग-रूम, दस डिझाइन — एक से एक ओलग। देखने वाला देखे और बोले, 'की चोमत्कार'। **(जोर से बैरे को आवाज दे कर)** बॉय, सोडा लाग्रो। **(देसाई से)** ओबी 'बोम्बे टाकीज' से डायरेक्टर चटर्जी का फ़ोन आया था कि पाँचूदा तोतकाल आओ, हम कार भेजता है। ओ हमको अपना यूनिट में लेने को माँगता है। नाम डायरेक्टर उसका होगा, काम तो साला हमीं करेगा।

देसाई : पाँचूदा कुछ 'बॉम्बे टॉकीज़' में हमारा भी तिकड़म भिड़ा दो।

पाँचूदा : **(किचन की ओर आवाज देता है)** ऐ मार्शल जोल्दी कोरो! हमको ओबी जाने को माँगता है।

[**मार्शल सोडा लाता है।**]

— : पाँचूदा आर्ट डायरेक्टर ही नेईं, ठाकुरदा के साथ शान्ति निकेतन में रहा है। क्या कोबिता, क्या गॉल्पो और क्या ओभिनोय, सोब में अपना कोबजा है। चटर्जी हमको बोले बिना कहानी नेईं लेता। 'ज्योति फ़िल्म्ज़' बिके वा 'ज्योति फ़िल्म्ज़' रहे, पाँचूदा को कोई वोंदा नेईं। अपना मोस्तिष्को का जोर पाँचूदा इन्डस्टरी के माथा पर चढ़ कर बैठेगा।

[**एक घूंट में सोडा पीता है और उठता है। देसाई उसके पीछे रिरियाता-सा जाता है :**]

देसाई : पाँचूदा हमारे लिए भी 'बॉम्बे टॉकीज़' में कुछ करो ना। पाँचूदा हमारे लिए भी....

[**उसकी आवाज धीरे-धीरे दूर हो जाती है। बाहर साइरन[1] की आवाज आती है, जो इस बात की द्योतक है कि शूटिंग हो रही है अथवा गाने का 'टेक' (take) लिया जा रहा है। स्टूडियो**

---

[1] साइरन = siren = भोंपू।

के सारे शोर थम जाते हैं और फिर गाना फ़िज़ा में गूंज उठता है :

सिर का इलाज कर भी लें,
दिल का इलाज क्या करें।

एक ज़ोर की आवाज़ आती है 'कट' और गाना बन्द हो जाता है। कैण्टीन में एक चपरासी आता है।]

चपरासी : बड़े साहब के कमरे में एक ट्रे चाय और टोस्ट जल्दी भिजवाने को माँगता है।

मार्शल : अभी देता है, उधर बैठो।

चपरासी : सेठ लोग आयेला है। जल्दी ले जाने को माँगता है।

मार्शल : अभी देता है, बैठो।

चपरासी : तो इतने में हमको एक सिंगल चाय पीने को माँगता है, तुम ट्रे बनाओ, हम चाय पीता है।

[एक दूसरा चपरासी आता है।]

दू०चप० : मिस पिम्मी उदर अपने कमरे में चाय का ट्रे और टोस्ट माँगता है।

मार्शल : चलो, अभी भेजता है। **(दूसरे बैरे छोकरे से)** देखो, जल्दी उदर मिस पिम्मी के लिए चाय-टोस्ट ले कर जाने को माँगता है, समझा। और उदर किचन में बड़े साहब के वास्ते चाय-टोस्ट तैयार करने को बोलो और उस हमाल[1] को सिंगल चाय दो!

[बाहर ज़ोर से साइरन की आवाज़ आती है और इसके साथ ही कैण्टीन भरनी शुरू हो जाती है। कई एक्सट्रा लड़कियाँ आ कर बेंचों पर बैठती हैं। सिंगल चाय-टोस्ट का शोर मच जाता है। कम्पनी के कुछ-एक मुलाज़िम अपने टिफ़िन-कैरियर साथ लाते हैं और मेज़ों पर बैठ कर खाना शुरू करते हैं। मार्शल को भी आमलेट आदि का आर्डर देते हैं। अगले सम्वादों में पहला चपरासी अपनी सिंगल चाय पी कर बॉस के लिए चाय की ट्रे और टोस्ट ले जाता है। दूसरा चपरासी मिस पिम्मी के लिए चाय-टोस्ट ले जाता है। कैण्टीन के सभी बैरे काम करते हैं। मार्शल कभी इसको इधर भेजता है, कभी उसको उधर। कैण्टीन में ख़ासी गहमा-गहमी हो जाती है।

१. हमाल = चपरासी = नौकर।

इस बीच में साउण्ड रिकॉर्डिस्ट अजगाउँकर और म्यूज़िक डायरेक्टर पितलकर ख़ासे परेशान दाख़िल होते हैं। साथ में परवाना भी लगा है।]

अजगाउँकर : **(कैण्टीन के अन्दर आते ही)** मार्शल! दो कप चाय ट्रे में लाने को माँगता है। **(सापले के निकट की ख़ाली मेज़ की ओर बढ़ते हुए)** अपना तो भेजा ख़राब हो गया इस टेक में, सुबह से यह झख मार रहा है और सन्ध्या काली[1] मारता रहेगा और गीत रिकॉर्ड नहीं होगा। क्लब में बॉस ने किसी का गाना सुना और हमारे मत्थे मढ़ दिया कि लो भरो प्लेबैक। न सुर का ज्ञान, न ताल का।

पितलकर : तुम सुबह की बात करता है अजगाउँकर, यहाँ तीन दिन से माथा फोड़ रहा है इसी ट्यून के मारे, जब सिंगर ही साला बंडल होगा तो म्यूज़िक डायरेक्टर क्या करेगा? क्या बढ़िया ट्यून दिया हमने, पन[2] बिना आवाज़ साला ट्यून क्या करेगा। और फिर बॉस बोलेंगा इतना ख़र्च उठ गया। ....मार्शल चाय लाओ जल्दी।

[सापले के निकट की मेज़ पर बैठ जाते हैं। परवाना नहीं बैठता, पितलकर के पास जा कर ज़रा धीमे :]

परवाना : देखो यार पितलकर, एक गीत हो गया है। ज़रा सुनो, बड़ी गुंजाइश है इसमें ट्यून की :

ईचक मीचक आँखें तेरी
आँख मटकते तारे!

पितलकर : **(झुंझला कर)** मारो गोली यार ट्यून को। यहाँ तो कण्टाल गया। तुम अच्छा गीत लिखेंगा, हम अच्छा ट्यून बनायेंगा और बॉस ले आयेंगा कोई अपने जानू के साले का साला और सब बण्टाढार हो जायेंगा।

परवाना : **(और भी धीमे स्वर में)** देखो, किसी से कहना नहीं। बॉस अब बॉस नहीं रहेगा। सेठ कपूरसेन कम्पनी ख़रीद रहे हैं। मुझे उन्होंने अपना यूनिट बनाने को कहा है। तुम दोनों कहाँ दुकड़िया यूनिट में पिस रहे हो। फ़्लूक[3] लग जाना दूसरी बात है। तुम्हारे उस डायरेक्टर पाई को समझ भी है डायरेक्शन की। भगवान कसम, तुम मेरे साथ आ जाओ तो कमबख़्त ऐसी फ़िल्म बनायें कि सारे हिन्दुस्तान में जुबली मनाती फिरे।

पितलकर : हाथ भी ख़ाली हो हमारा! इन गानों का टेक हो तो कुछ करें!

परवाना : अरे तुम्हारा क्या है, घर में दो-चार घण्टे में ट्यून बनाओ, रिहर्सल वह चन्दू करा लेगा और इतवार को हम टेक ले लेंगे।

१ सन्ध्या काली = शाम तक। २. पन = पर। ३. fluke = तुक्का।

पितलकर : अच्छा देखेंगा।

परवाना : एक हजार फ़ी ट्यून दिला देंगे। चन्दू से सुलट लेना। बात मैंने सेठ से कर ली है। तुम ज़रा इतना करो कि अब ज़रा लंच-टाइम में मेरे इस गीत को देख लो, ज़रा पहले बोल को ट्यून बना दो। जो ट्यून तुम बनाओगे, उसी से मैं सेठ को गा कर सुनाऊँगा। उसने यह ट्यून पास की कि मैं तुम्हारा कॉण्ट्रैक्ट ला दूँगा।

पितलकर : काण्ट्रेक्ट-फाण्ट्रेक्ट से काम नेईं चलेगा। तुम हमें नगद दिलाओ। और चन्दू को मज़दूरी देना तुम्हारा काम है। हम उसको ट्यून बना कर दे देंगा और टेक के वक्त आ जायेंगा बस!

परवाना : अच्छा-अच्छा! मैं सेठ से ऐसा ही करा दूँगा। तुम नकद की बात कहते हो, मैं आधे गानों का पैसा पेशगी दिला दूँगा।

पितलकर : तो चलेगा। (किचन की ओर देख कर ज़ोर से चिल्लाता है) मार्शल, चाय हमारा म्यूज़िक रूम में भेजने को माँगता है! एकदम, अब्भी।

परवाना : (पितलकर के साथ चलते हुए) देखो भई अजगाउँकर, अपना वादा याद रखना। (सापले से) क्यों सापले मेरा काम कर रहे हो न! लंच टाइम के बाद मुझे जाना है। एक-आध ड्राइंग ज़रूर मिल जाये।

सापले : कोई वांदा नहीं, मिलेगा।

पितलकर : तुम ज़रा हमको छुट्टी दो अजगाउँकर। हम साला इसका एक-एक ट्यून बना दे।

अजगाउँकर : ओ – के!

[पितलकर और परवाना बाँह-में-बाँह डाले चले जाते हैं। क्षण भर बाद मार्शल ट्रे में एक टी-पॉट और एक सिंगल चाय लाता है। टी-पॉट और प्याला अजगाउँकर के सामने रखता है।]

अजगाउँकर : पितलकर साब का चाय म्यूज़िक-रूम में भेजो!

मार्शल : (सिंगल कप एक दूसरे बैरा छोकरे को देते हुए) पितलकर साहब का प्याला उदर ले जाने को माँगता है, जहाँ गाने का टेक हो रहा है।

[एक चपरासी तेज़-तेज़ आता है।]

चपरासी : दो नम्बर स्टूडियो में पाई साहब सोडा माँगता है।

[अजगाउँकर चाय का प्याला बना कर चुस्की लेता है और फिर अपना प्याला उठा कर सापले की मेज़ पर चला जाता है। नीचे के सम्वाद में सापले बराबर अपना डिज़ाइन बनाये जाता है। बैक-ग्राउण्ड में पांचूदा की आवाज़ आती है :]

पाँचूदा : (पार्श्व-भूमि में) ऐ देसाई चोलो। 'बॉम्बे टाकीज़' का गाड़ी आ गया।

अजगाउँकर : (चाय की चुस्की लेते हुए) तुम सापले साला ये क्या कलम घिसता रहता है दिन भर। कुछ मस्का-पालिश[1] सीखो। पाँचूदा को देखो, ओ बी तुम्हारे माफ़िक डिज़ाइन बनाता था। सुनता है कि 'बॉम्बे टॉकीज़' में आर्ट-डायरेक्टर होने को जा रहा है। कुछ उसका आमदनी देखो, कुछ अपना। हम जानता है कि तुम उससे अच्छा काम करता है, पन ओ ठैरा मस्केबाज़ नम्बर वन! तुम चार बरस से इसी कोने में बैठेला है और ओ चार बरस में मामूली ड्राफ़्ट्समैन से आर्ट-डायरेक्टर बन गया।

सापले : अरे भई, अपन को यह सब कुछ नहीं आता। अपन तो काम करना जानता है। (क्षण भर रुक कर) हम सुना, तुम कहीं और जा रहा है? कहीं हमको भी ले जाओ।

अजगाउँकर : बस, इस फ़िल्म के पीछू[2] हम अपना इंडिपेण्डेण्ट फ़िल्म डायरेक्ट करेंगा। बोलो, करेंगा हमारे संग काम?

सापले : क्यों नेईं करेंगा। हम ज्यादा बात नहीं करता। पन जो सेटिंग हम देंगा, उसे साला कोई दूसरा देने नेईं सकेंगा।

अजगाउँकर : एक फ़नांसर[3] से हमारा बात चल रहा है। बन गया तो इस कम्पनी से जान छुड़ायेंगा।

सापले : यह तो वैसे भी बिक रहा है। तुम भाई, अकेला आदमी है, तुम्हें क्या फ़िकर है। यहाँ बीवी है, तीन छोकरा, दो नान्हा[4] छोकरी है। यहाँ से जवाब मिल गया तो कइसा चलेंगा।

अजगाउँकर : अरे, तुम चिन्ता नहीं करो, हम तुम्हारा सब बन्दोबस्त करेंगा। और फिर यह कम्पनी वाला भी तुमको छोड़ने का नहीं है, तुम इतना अच्छा आर्टिस्ट है।

सापले : आर्ट-फ़ार्ट को कौन पूछता है! यहाँ चलता है मस्का-पालिश और चलता है रिश्ता-नाता। नया बॉस आयेंगा तो अपने साथ नया टीम लायेंगा। हमारा डिज़ाइन ले जा कर अपनी बीवी को दिखायेंगा और पूछेंगा, 'बोलो कैसा बनेला है?' उसको पसन्न आया तो पास, नहीं तो उठा सापले अपना बोरिया-बिस्तर।

अजगाउँकर : अरे, यही हाल साला सब का है। ट्यूनिंग और टेक में क्या बॉस अपना बीवी को नहीं लाता। कहानी और गीत भी वही पास होते हैं, जिसको बॉस का बीवी पसन्न करता है। बॉस का खयाल है कि उसका

१. मस्का पालिश = मक्खन बाज़ी। २. बाद। ३. financer = पूँजीपति।
४. छोटी।

बीबी श्राम ग्राडियेन्स[1] को रिप्रेज़ेण्ट[2] करता है। सब का यही हाल है। हरीश का कहानी हमारे बॉस का बीबी ने पास कर दिया था। पर शायद कासिमभाई या कपूरसेन का बीबी लोग ने पास नहीं किया।

[ज़ोर से ठहाका मारता है।]

सापले : तुम्हारा क्या खयाल है, कपूरसेन खरीदेंगा या कासिमभाई।

ग्रजगाउँकर : इस वक्त तो दोनों का पलड़ा बराबर है। सुबह सुनता है कपूरसेन खरीदेंगा, शाम को मालूम होता है कासिमभाई ने खरीद लिया श्रौर कम्पनी का मुलाज़िम लोग साला कभी इस किनारे श्रा लगता है, कभी उस किनारे। तुम बोलो, तुम किधर है?

सापले : ग्रपना एक जानू सेठ है कपाड़िया। हमारा ग्रार्ट को बौत मानता है। हम उसको बोला था कि शेयर मार्केट का धन्धा छोड़, फ़िल्म कम्पनी खरीद लो। बौत पैसा साला इस बिज़नेस में, तुमको घाटा नहीं रग्रेंगा। हमारे बॉस से दो फ़िल्म भी चल गया तो वारा-न्यारा हो जायेंगा। हमारे बॉस से मिलने को ग्राया बी था, पर बात नहीं बना। ग्रो ग्राता तो ग्रपना बी कुछ बनता। ग्रब तो बीच में लटकेला है।

[ग्रजगाउँकर ठहाका मारता है।]

ग्रजगाउँकर : तुम सदा ऐसा ही रग्रेंगा। बोलो, तुम्हारे उस नये डायरेक्टर परेश का क्या हाल है?

सापले : ग्रो फिर डायरेक्टर से ऐक्टर बन गया। हॉर्नबी रोड पर वह कौन साला पामिस्ट है...नाम इस टाइम हम भूल रहा है, उदर ग्रो गया था! पामिस्ट बोला, 'ग्रजुन तुम्हारे भाग की रेखा बन्द है। चुप से दो कॉण्ट्रैक्ट ले लो।' सो उसने 'मनजीत फ़िल्म कम्पनी' की ग्रगली पिक्चर 'राजपूत की जीत' में हीरो का कॉण्ट्रैक्ट भर दिया है।

ग्रजगाउँकर : ग्रौर प्रोड्यूसर फाचा।

सापले : ग्रो फिर साउण्ड ट्रक में वापस चला गया है। पन हम सुना, ग्रो रग्रेंगा नेई। छोड़ कर चला जायेंगा।

[पृष्ठभूमि में प्रोडक्शन सेक्रेटरी ए० परेरा की क्रोध-भरी ग्रावाज ग्राती है।]

परेरा : ए चोपड़ा, तुम यहाँ खाली-पीली खड़ा क्या करेला है? उधर एक नम्बर स्टूडियो में चाँदी का सिगरेट लाइटर माँगता है। ग्रब्बी! किसी को चर्च गेट भेजो! साला सारे-का-सारा सीन पड़ा रह जायेंगा। ग्रो

१. दर्शक। २. प्रतिनिधित्व।

प्रॉपर्टीमैन[1] क्या करता है, भेजो उसको जल्दी। (क्रोध में ग्रपने-ग्राप) ये डायरेक्टर लोग साला कभी टाइम से नहीं बोलेंगा। कम्पनी का कितना हर्जा होता है, इनको कुछ मालूम नहीं। (वहीं से चिल्ला कर) ऐ मार्शल, हमारे कमरे में एक सोडा माँगता है। जल्दी भेजो।

[चला जाता है। बाहर से पितलकर ग्रौर परवाना ग्राते हैं।]

पितलकर : ग्ररे मार्शल, तुमने चाय नहीं भेजा। सारा मूड साला खराब कर दिया।

मार्शल : उसी टाइम भेजा था साब।

पितलकर : किदर भेजा था।

मार्शल : प्रोजेक्शन-रूम में, जिदर गाने का टेक हो रहा है।

पितलकर : हम तुमको म्यूज़िक-रूम में भेजने को बोला था, तुम एकदम बंडल है। लाग्रो एक प्याला चाय। एकदम गर्म!

[एक मेज पर बैठता है।]

परवाना : पर इस खराब मूड में भी पितलकर तुमने ट्यून ऐसी ग़ज़ब की बनायी है कि सेठ कपूरसेन चारों खाने चित गिर जाये। इसको मस्का न समझो पर तुम ट्यून के बादशाह हो। देखो ग्रगर यह काम हो गया तो पार्टी हमारी रही।

पितलकर : पार्टी साला तुमको देना चाहिए।

परवाना : ग्रो – के! कल ही चलेंगे 'ईरोस' में।

पितलकर : ईरोस-फ़ीरोस में नहीं। 'माई डार्लिंग' में।

परवाना : ग्रो-के! (झूमता हुग्रा सापले के पास जाता है) बोलो सापले, कुछ बनाया?

सापले : इतनी जल्दी कैसे बनाने सकता है। ये दो रफ़ डिज़ाइन बनाया है।

परवाना : (डिज़ाइन लेते हुए) खूब! तुम दो-एक ग्रौर बना रखो!

[परेश, हरीश ग्रौर दो-एक ग्रन्य व्यक्ति ग्राते हैं, खाली मेज पर बैठते हैं ग्रौर मार्शल को चाय भेजने का ग्रार्डर देते हैं। परवाना झूमता हुग्रा उनकी ग्रोर जाता है।

जावेद तेज-तेज ग्राता है। सापले की मेज पर ग्रा कर झुकता है।]

जावेद : मिस पिम्मी से मैंने ग्रभी बात की है, वह हमारे यूनिट में ग्राने को तैयार है। ईमान से क्या ग़ज़ब का जिस्म पाया है उसने – पतली कमर ग्रौर कटार-सी ग्राँखें! सेठ कासिमभाई तो उस पर फ़िदा है। ग्रभी कार ग्रायी है उसकी। ग्राज शूटिंग के बाद में पिम्मी को ले जा रहा है,

१ property-man = सेट पर साज-सामान का प्रबन्ध करने वाला।

ईरोस में। वहीं सेठ से मुलाकात हो जायेगी। बस यह कम्पनी का मामला तय हो जाय! अपना यूनिट तो पूरे-का-पूरा तैयार है। **(मार्शल से)** मार्शल, एक चाय दो, चीनी कम और खूब गर्म।

[वहीं बैठ जाता है।]

परवाना : कहिए हरीश जी, कब मुहूर्त हो रहा है आपकी फ़िल्म का?

हरीश : **(परवाना के व्यंग्य को हँसी से बेकाम करके)** जब नये बॉस की बीवी कहानी को पसन्द करले!

[परवाना एक कृत्रिम ठहाका मारता है।]

परेश : हम तो खैर पुराने पापी हैं, इस ऊँच-नीच से हमारा रोज का वास्ता है। पर तुम हरीश कहाँ आ फँसे इस इण्डस्ट्री के चक्कर में? यहाँ किसी साहित्यिक के लिए अभी जगह नहीं।

हरीश : अच्छे साहित्यिक के लिए अभी कहीं भी जगह नहीं!

परेश : लेकिन फ़िल्म इण्डस्ट्री में तो बिल्कुल नहीं! फ़िल्मी दुनिया में आने से पहले साहित्यिकता और मौलिकता को घर छोड़ आना चाहिए। यहाँ आर्ट और ओरिजिनैलिटी[1] की कोई पूछ नहीं! पुरानी शराब कितनी नयी और रंगीन बोतलों में दी जाती है, बस इसी की पूछ है! मिस विल्किन्सन की किताब पढ़िए। आठ-दस फ़ारमूले हैं, जोड़-तोड़ कर कहानी बनाइए। बारह-तेरह गाने और पाँच-सात नाच ठूँसिए। यदि आपने यह सब ढंग से कर दिया, तो फ़िल्म हिट!

परवाना : **(जो अपने आपको डायरेक्टर समझता है और उस दूसरे खेमे से बोलता है, जो फ़नांसरों, प्रोड्यूसर और डायरेक्टरों का है)** केवल गानों की बात नहीं, गाने हर कोई लिखता है, और फ़ारमूले भी सभी को आते हैं – एक गाना बचपन का, जो जवानी में भी गाया जा सके; एक ग़रीबों का और एक देश-प्रेम का, आदि-आदि....यह फ़ारमूला सबको मालूम है, पर फ़ारमूला जानने से ही तो फ़िल्म हिट नहीं बन जाती। फ़िल्म हिट बनती है, उस फ़ारमूले को ठीक एप्लाई करने से। गाने वाला ठीक गाना लिखे और डायरेक्टर उसे ठीक सिचुएशन में रखे, तब बात बनती है। अब मैं जो गाने लिखता हूँ, उनमें नयापन न होते हुए भी नयापन रहता है। यही मेरी सफलता का भेद है। 'वह भोला बालम क्या जाने' इसमें कोई नयापन नहीं, लेकिन देखिए इसकी सादा ट्यून और सरल भाव! और यही चीज तो फ़िल्म को हिट बनाती है, जिसे देखने और सुनने के लिए लोग बार-बार फ़िल्म देखने आते हैं।

१. art and originality = **कला और मौलिकता।**

इस गाने को अगर कहानी में ठीक सिचुएशन नहीं मिली तो गाना मार खा जायेगा। और ठीक सिचुएशन मिल गयी तो फिर देखिए, इसे खटारे वाले से ले कर कॉलेज के छोकरों तक की जबान पर! अब जो फ़िल्म मैं डायरेक्ट करने जा रहा हूँ, 'हाय मेरी जान' तो उसमें....

[एक चपरासी तेज-तेज आता है।]

चपरासी : सापले साहब, आपको बड़े साब सलाम बोलते हैं।

सापले : कौन? मैनेजिंग डायरेक्टर या कण्ट्रोलर ऑफ़ प्रोडक्शन्ज़?

चपरासी : कण्ट्रोलर साब।

सापले : **(उठते हुए)** जाने अब क्या शामत आने वाला है। अपन को बॉस से बौत डर आता है। बूम मारने लगता है तो कुछ देखता-सुनता नहीं। **(जावेद से)** मैं जरा हो आऊँ बॉस के पास, तुम बैठो इदर। **(मार्शल से)** मार्शल, जावेद साब को एक चाय इदर दो!

[जाता-जाता परवाने को एक डिजाइन और देता है।]

सापले : ये कागज़ रखो परवाने। **(आँख का इशारा करता है कि डिजाइन है)** हम अभी आता है। देखें, बॉस क्या बोलता है!

[चला जाता है। मार्शल हरीश की मेज़ पर चाय रखता है।]

परेश : **(चाय प्यालों में ढालते हुए)** और हरीश भाई, दिल को छोटा करने से फ़िल्म में काम नहीं चलता। खाल होनी चाहिए गैंडे को और दिल होना चाहिए पत्थर का, तब फ़िल्म में आदमी चल सकता है। पूछो परवाने से! **(हँसता है)** एक गाना बॉस को पसन्द नहीं आया तो दूसरा, दूसरा नहीं तो तीसरा – साला जायेगा किधर? यही हाल कहानी और दूसरी चीजों का है, अब हम डायरेक्टर नहीं बन पाये तो क्या हुआ? फिर बनेंगे। दिल छोटा करने वाले को इण्डस्ट्री उठा कर बाहर फेंक देती है। सो मैंने कॉण्ट्रैक्ट कर लिया है दो फ़िल्मों में हीरो के रोल का, 'मन्जीत फ़िल्म कम्पनी' से। जिन्दा रहे तो इसी साली 'ज्योति फ़िल्म्ज़' में डायरेक्टर छोड़, प्रोड्यूसर बनेंगे।

[हरीश कोई उत्तर नहीं देता, चुपचाप चाय पीता है]

— : तुम कहाँ फ़िल्म डायरेक्ट कर रहे हो परवाना?

परवाना : **(बेपरवाही से)** सेठ कपूरसेन कह रहे हैं मुझे 'ज्योति' की अगली फ़िल्म डायरेक्ट करने के लिए। कम्पनी वही खरीद रहे हैं, क्यों हरीश साहब, अगर कहीं और कॉण्ट्रैक्ट नहीं किया तो यहाँ हमारी फ़िल्म के डायलॉग लिखिए।

हरीश : **(सव्यंग्य)** 'हाय मेरी जान' के?

परवाना : हिट फ़िल्म न हो तो परवाना नाम नहीं!

हरीश : हिट हो चाहे डबल हिट, पर मुझे तो माफ़ ही रखिए।

परवाना : आपकी मर्ज़ी ! **(दूसरों को सुना कर)** और फिर लोग कहते हैं कि हिन्दी के कथाकार और कवि फ़िल्म-क्षेत्र में सफल नहीं होते। फ़िल्म में आने से पहले उन्हें समझ लेना चाहिए कि उन्हें एक दूसरे माध्यम से जनता तक पहुँचना है।

हरीश : उन्हें नहीं, क्योंकि फ़िल्म में वे तो कहीं होते नहीं। होता है वह सब कूड़ा-कचरा, जो प्रोड्यूसर या फ़नांसर चाहते हैं कि जनता के दिमाग़ में भरा जाय।

परवाना : **(पूर्ववत दूसरे खेमे से बोलते हुए)** प्रोड्यूसर लाखों रुपये लगाता है, इसलिए यदि वह चाहता है कि वह डूब न जाय तो क्या बुरा करता है?

हरीश : वह उसकी इस सारी सावधानी के बावजूद प्रायः डूब जाता है।

परवाना : पर उसे तसल्ली रहती है कि उसका चुनाव ग़लत था। किसी दूसरे के चुनाव पर उसे रुपया लगाना पड़े तो उसे यह तसल्ली न रहे।

हरीश : जब रुपया लगाने वाला एक आदमी न होगा, जनता होगी, तब लेखक जो चाहेगा, दे पायेगा। जभी हम लिखेंगे।

परवाना : **(व्यंग्य से ठहाका लगाता है)** जनता....न जाने जनता के नाम पर कितने प्यारे धोखे इस दुनिया में फैलाये जा रहे हैं। हरीश साहब, जनता न चाहती तो प्रोड्यूसर ऐसी फ़िल्में न बनाते। जनता कभी न चाहेगी।

हरीश : यदि हिन्दुस्तान में शराब और चीन में अफ़ीम नशेबाज़ों के न चाहने के बावजूद बन्द हो सकती है तो फ़िल्मों के द्वारा यह जो अफ़ीम लोगों को पिलायी जा रही है, यह भी बन्द हो सकती है।

परवाना : तॉल्स्तॉय की कहानी का गला काट कर आप कौन-सा शहद जनता को पिलाने जा रहे थे हरीश साहब ?

हरीश : किसी अश्लील विलायती फ़िल्म के गले पर छुरी चलाने से तॉल्स्तॉय की कहानी के गले पर छुरी चलाना बेहतर है।

परवाना : **(कन्धे झटक कर)** ख़ैर, आप डायलॉग न लिखेंगे तो दूसरे बीसियों लिखेंगे, फ़िल्में डायलॉग के बल पर नहीं, गीतों के बल पर चलती हैं।

[गीजू भाई भागा-भागा आता है]

गीजू भाई : अरे, सुना तुम लोगों ने ! कम्पनी को सेठ कपाड़िया ने ख़रीद लिया है ! वो साला सापले कण्ट्रोलर ऑफ़ प्रोडक्शन्ज़ हो गया है।

कई आवाज़ें : सापले, बॉस !!

[हरीश और परेश भी उनके पीछे जा खड़े होते हैं। कई लोग चाय पीते-पीते उठ कर गीजू भाई को घेर लेते हैं।]

गीजू भाई : कपाड़िया सेठ आधा घण्टे से उधर बॉस के पास बैठेला था। सौदा पटा रहा था। **(सबको सुनाते हुए)** सेठ कासिमभाई और कपूरसेन से दो लाख रुपया ज्यादा बोली दिया उसने। तेरह लाख में कम्पनी बिक गया। सापले कण्ट्रोलर हो गया।

जावेद : **(अचानक उठ खड़ा होता है)** और मैं यहाँ बैठा उनका इन्तज़ार कर रहा हूँ ! बड़ी ज़रूरी बात करने जा रहे थे मुझसे सापले साहब !

[तेज़-तेज़ बाहर की ओर को जाता है।]

मार्शल : **(चाय का प्याला लाते हुए)** साब, ये आपका चाय !

जावेद : गोली मारो चाय को !

[भागता-सा बाहर निकल जाता है।]

परवाना : **(जावेद को जाते देख, अचानक हिं...हिं कर हँसते हुए)** ये डिज़ाइन सापले साहब के मेरे पास ही रह गये। मैं दे आऊँ, शायद इनकी ज़रूरत हो।

[जावेद के पीछे जाता है।]

हरीश : पोलसन का डिब्बा लेते जाओ !

परेश : अगर 'हाय मेरी जान' डायरेक्ट करना चाहते हो तो !

[लेकिन परवाना बाहर जा चुका है। कैण्टीन लगभग सारी-की-सारी ख़ाली हो जाती है। केवल हरीश और परेश रह जाते हैं। परेश चुपचाप जा कर कप में चाय ढालने लगता है।]

हरीश : **(मंच के सिरे पर आते हुए प्रकट अपने-आप से, लेकिन दर्शकों को सुनाते हुए)** सापले तो फिर भी समझदार है, उससे भी बड़ा चुग़द हो सकता है बॉस ! यह फ़िल्मी दुनिया है — मस्केबाज़ों का स्वर्ग !

[पर्दा गिरता है।]

१९५१

---

* *

